प्रकाशक . मानसरोवर प्रकाशन, गया ।
मुद्रक : श्री उपेन्द्र आचार्य पटना ।
चित्रकार : श्रीकृष्णचन्द्र श्रीवास्तव, काशी ।
प्रथम संस्करण : १००० प्रतियाँ ।
संवत् : २००६ वि० ।

समर्पण

पटना विश्वविद्यालय

के

उपकुलपति

श्री शार्ङ्गधर सिंह, एम० ए०, एम० एल० ए०

को

सादर,

जिनका

कुलक्रमागत हिन्दी-प्रेम

अनुकरण एवं प्रेरणा

का

विषय है।

आशीर्वचन

सन्त-साहित्य यद्यपि इधर हिन्दी-लेखकोका प्रिय विषय बन गया है, पर अभी भी उसका अध्ययन पूर्ण रूपसे सन्तोषजनक नही हुआ है। सन्तोकी एक बहुत पुरानी परपरा रही है। उस परपराकी जानकारीके बिना मध्यकालके सन्तोकी सभी विशेषताओको नही समझा जा सकता। फिर कभी-कभी भावप्रवण लेखक मध्ययुगके किसी सन्तको या किसी सन्त-सम्प्रदायको इतना महत्त्व दे देते है कि प्राय वास्तविकताये दब जाती है और अध्ययन दोषपूर्ण हो जाता है। सन्तोकी विशाल परपराकी विशेषताओकी जॉच उनके ऐतिहासिक विकास और उनके उपदेशोकी भावी परिणतिको दृष्टिमे रखकर ही करनी चाहिये। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि श्री बैजनाथ जी और श्री विश्वनाथ जीने एक बडे पट पर रखकर सन्त-साहित्यको परखनेका प्रयत्न किया है। सन्त-साहित्यके लिये जिस व्यापक और उदार दृष्टिकी आवश्यकता है, वह उनके पास है। यह उनका आरम्भिक प्रयत्न है। आगे चलकर वे अपने साहित्यको अधिक महत्त्वपूर्ण कृति दे सकेंगे, ऐसी आशा है। मै हृदयसे इन तरुण मित्रोका साहित्य-क्षेत्रमें स्वागत करता हू। अध्ययनके विशाल क्षेत्रमे अन्तिम कुछ भी नही है। जिनके चित्तमे लगन होगी वे ही इस क्षेत्रमे नया-नया बीज-वपन कर सकेंगे। मेरी हार्दिक शुभकामना है कि तरुण मित्रोका यह आरम्भ साहित्यके लिये कल्याणकारी हो।

शान्ति-निकेतन,
१७-२-५०।

हजारीप्रसाद द्विवेदी।

अवतरणिका

हिन्दी-साहित्यमे जिसे निर्गुणमत या सतमत कहते है उनका जितना और जैसा अध्ययन होना चाहिये, नही हो पाया है । सत-साहित्यकी इस चितनीय उपेक्षाके मूलमे अनेक प्रकारकी भ्रान्तियाँ रही है, जिनसे अभिभूत आलोचक उसके प्रति पूरा न्याय नही कर सके है । आज भी इन भ्रान्तियोका पूर्णतया निराकरण नही हो सका है, और तब तक नही हो सकेगा जब तक अच्छी तरह उस साहित्यको देखने-समझनेकी चेष्टा नही की जायगी ।

निर्गुण-काव्य मध्ययुगके कुछ अपढ सतोंकी केवल अटपटी बानी ही नही है, जैसा कि बहुतोकी धारणा है । वे सत अपढ कहे जा सकते है पर ज्ञान-हीन नही, उनकी बानी अटपटी भी हो सकती है पर अर्थहीन नही है । 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' की स्थितिमे पहुँचने पर किसीकी वाणीका भी अटपटी हो जाना सर्वथा स्वाभाविक है । 'तदेजति तन्नैजति', 'अनेजदेकं मनसो जवीयो' 'यस्यामतं तस्य मत' 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' आदि औपनिषदिक वाक्य अटपटी वाणियाँ नही तो और क्या है ? सन्तोके ज्ञानमे अनुभूतिकी सरसता और प्राणवत्ता है, शास्त्रीयताकी शुष्कता और निर्जीवता नही । लौकिक सुखोंको त्यागकर, साधनाकी आँचमे तपकर, ससारके राग-विरागसे ऊपर उठकर समदृष्टिताकी दैवी शक्ति अर्जित कर उन साधकोने जिस अमर तत्त्वको पाया, उसे सार्वजनिक हितके लिये, उन्होने उसी ससारके सम्मुख रख दिया, जिससे वे नाता तोड़ चुके थे । उस अमर तत्त्वको व्यक्त करनेवाली वाणी केवल कविता नही है, केवल दर्शन नही है, केवल उलटबाँसी नही है, केवल रहस्यवाद नही

है, बल्कि उसमे आठवी शताब्दीसे लेकर सोलहवी–सत्रहवी शताब्दी-तकका हमारा सास्कृतिक इतिहास निहित है। निर्गुण-काव्य एक ऐसा अनिवार्य सबल है जिसे छोड़कर भारतीय सास्कृतिक विकास-क्रमके अध्ययनके मार्ग पर हम एक पग भी आगे नही बढ सकते। वह ज्ञान, भक्ति, उपासना, योग, तत्र सभीका अपूर्व समन्वय है। तात्पर्य यह कि भारतकी आध्यात्मिक चितन-धारामे जो कुछ उत्तम है, वह उसमें संनिविष्ट है। निर्गुण-काव्यके प्रणेता उन क्रान्तदर्शी मनस्वियोंमें है, जिनकी वाणीका स्वर देश और कालकी सीमाका अतिक्रमण कर शाश्वत एव सार्वभौम रूपसे गूजता रहता है। उसे जहाँ चाहे, जब चाहें सुन सकते है। वैसे ही उनका धर्म शुद्ध तर्ककी कसौटी पर कसा हुआ धर्म है जिसमें संकीर्णता और रूढिके लिए जरा भी अवकाश नही। 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतर'. के सिद्धान्तके वे सर्वोत्कृष्ट निदर्शन है। उनका धर्म-मानव-धर्म है, किसी वर्ग-विशेष या जाति-विशेपका नही। इन्ही कारणोसे सगुणकी अपेक्षा निर्गुण अधिक ग्राह्य है, अधिक व्यापक है। तुलसी के रामका रूप आर्येतर जातियो को संभवत स्वीकार्य नही हो किन्तु कबीरके रामके प्रति सबोका समान भावसे आकर्षण असन्दिग्ध है। आधुनिक युगमें ही रवीन्द्रनाथ ठाकुरके सार्वभौम सम्मानका अन्यतम कारण उनका निर्गुणत्व भी है।

अब तक विद्वानोने निर्गुण-काव्यको प्राय' शिष्टकाव्यके ही भीतर रखकर उसके गुणदोषो पर विचार किया है। प्रस्तुत पुस्तकके लेखक उसकी लोकगीतके रूपमें समीक्षा करना अधिक सगत समझते है। उनके शब्दोमे 'निर्गुण-काव्य सस्कृत-समाजकी अपेक्षा लोक-जीवनसे अधिक सबद्ध है। ····अतः निर्गुण-काव्यके मूल्याकनके लिये वह मानदड उचित नही जिसके आधार पर शिष्ट-काव्यकी आलोचना हुआ करती है'। 'निर्गुण-धारा' इसी मान्यताके समर्थनका मौलिक प्रयत्न है।

'निर्गुण-धारा' के लेखकोंका मुझे अन्यतम आचार्य होनेका गर्व है। मैं इस पुस्तकको 'पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्' की भूमिका समझता हूँ। छात्रावस्थामें ऐसी सुन्दर और गंभीर पुस्तक लिखना कुछ कम श्रेयकी बात नहीं। 'निर्गुणधारा' बैजनाथजी और विश्वनाथजी की एम० ए० की तैयारीके प्रसंगमें लिखी गयी है। पटना विश्व-विद्यालयकी हिन्दीकी एम० ए० परीक्षामें एक पत्र विशेष अध्ययन का है, जिसमें वीरगाथा, विद्यापति, संतमत, तुलसी, सूर आदिमें से किसी एकको चुनना पड़ता है। श्री बैजनाथका विशेष अध्ययनका विषय संतमत था, और श्री विश्वनाथका सूर-साहित्य। अतः सगुण-निर्गुण के व्यापक और तुलनात्मक अध्ययनसे प्रसूत इस पुस्तकका वजन और भी बढ़ जाता है। इसमें वह एकांगिता नहीं है जो किसी एक धारा-को लेकर चलनेवालेमें पायी जाती है।

मैं अपने इन दोनों प्रिय छात्रोंकी प्रगति तथा विकासको बड़े ही स्नेह और आशासे देखता रहा हूँ। और आज यह मैं निस्संकोच कह सकता हूँ कि इनमें कालिदासका यह कथन अक्षरशः चरितार्थ है—

'पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य'॥ †

अन्य ऋणोंकी भाँति एक आचार्य-ऋण भी है, और उससे उऋण होने की सर्वोत्कृष्ट पद्धति मैं यही मानता हूँ कि आचार्यसे अधिगत ज्ञानका शिष्य अधिकसे अधिक प्रसार करे। मुझे प्रसन्नता है कि उस आनृण्य को श्री बैजनाथ और श्री विश्वनाथने अंशतः प्राप्त कर लिया।

---

† उपदेष्टाकी शिक्षा विशिष्ट पात्रमें न्यस्त होकर कुछ दूसरे ही उत्कर्षको प्राप्त होती है, जैसे मेघका जल समुद्रशुक्तिमें पड़कर मोती बन जाता है।

जबसे लेखकोंने इस पुस्तकके लिखनका विचार किया, तबसे लेकर आज तक मैं 'निर्गुण-धारा' के साथ बहता रहा हूँ, इसलिये मैंने इसकी प्रत्येक ऊर्मिको अत्यन्त निकटमे देखा है। और उसके आधार पर मैं दावेके साथ कह सकता हूँ कि आलोचकमे जो गुण होने चाहियें, वे इन दोनों लेखकोंमे पूर्णत वर्तमान हैं। इनकी बुद्धि व्यापक एव उदार, दृष्टिकोण मौलिक तथा निष्पक्ष, विचार सन्तुलित और सगत, अभिव्यक्ति स्पष्ट एव प्राजल है। इस प्रथम प्रयासमे ही आलोचनाका यह निखरा हुआ रूप देखकर मैं मुग्ध हूँ। मेरा विश्वास है कि यदि इन गुणो के विकासका समुचित और अनुकूल वातावरण मिला तो ये दोनो होनहार लेखक हिन्दी-साहित्यके आलोचना-क्षेत्रमें अपना विशिष्ट स्थान बनाकर रहेंगे। इनके सम्बन्धमें मैं कुछ अधिक कहूँ, इससे अच्छा है कि लेखक स्वय अपनी कृतिके माध्यमसे अपने सम्बन्धमे कहें। वह अधिक मान्य भी होगा, विश्वसनीय भी होगा। लेखक और पाठकके बीच मैं इससे अधिक व्यवधान बनना उचित नही समझता।

मैं एक बार फिर अपने प्रिय छात्रोंके समुज्ज्वल भविष्य की शुभाकाक्षा करता हूँ—उसकी ओर आशान्वित दृष्टिसे देखता हूँ। इति शम्।

हिन्दी–विभाग,
पटना कालेज, पटना।
चैत्र कृष्ण १०, २००६।

देवेन्द्रनाथ शर्मा।

अपनी बात

जब हमारा पहले-पहल जनपदीय आन्दोलनसे परिचय हुआ, तो हमें लगा कि हिन्दी-साहित्यकी, विशेषतः मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्यकी अनेक समस्यायें ऐसी है, जिनके सम्यक् समाधानके लिये जनपद-साहित्य और जानपद जीवनमे प्रवेश अनिवार्य है। हिन्दीकी निर्गुण-धाराके अध्ययनके प्रसंगमे इसके महत्त्वको हमने विशेष रूपसे अनुभव किया। इसका कारण है।

हमारे भक्त-कवियोने जितने प्रबन्ध हिन्दीको दिये है, वे अकेले किसी भी साहित्यके लिये गर्वका विषय बन सकते है। आज हम 'मानस' और 'सूरसागर' की समीक्षा साहित्यिक दृष्टिकोणसे करने लगे है; एक समय था जब इनका केवल सांस्कृतिक महत्त्व था। यही बात 'पदमावत' आदि सूफी-प्रबन्धोंके विषयमें भी सत्य है। अन्तर इतना ही है कि 'मानस' और 'सूरसागर' के कवियोंकी तरह जायसी, कुतुबन और मंझन ने ऐसी कथावस्तु नही ली, जो लोकजीवनके साथ-साथ शास्त्रोको भी मान्य हो; उन्होने ऐसे चरित-नायक नही चुने, जो मनुष्य होनेके साथ-साथ देवत्वके रूपमे भी प्रतिष्ठित हो चुके हो। अतः उनके प्रबन्धोको भारतीय संस्कृतिकी देन समझने और सिद्ध करनेमे यदि कुछ सहायता मिल सकती है, तो लोकवार्ताओ से ही, शास्त्रोसे नही। मध्ययुगके भारतीय जीवनमे प्रचलित उन कहानियोका जिन्हें सूफियोने अलौकिक की व्यंजनाका आधार बनाया, आज मौखिक परम्परामें क्या रूप बच रहा होगा, यह अनुसन्धानका विषय है। लोकवार्ताओके संग्रहके जो प्रयास अभी तक हुए है, वे सन्तोषजनक नही कहे जा सकते। वस्तुतः

न हमारे आलोचकोने कभी सन्त-साहित्यका इस दृष्टिसे अध्ययन किया, और न जनपदीय आन्दोलनके उन्नायकोका ही ध्यान इस ओर गया। यह हिंदी-साहित्यके लिये दुर्भाग्यकी बात है।

सन्त-साहित्यके मुक्तकोंकी भी कुछ ऐसी ही दशा है। सन्तोके पदोको शास्त्रीय कसौटी पर खरा उतरते न पाकर आलोचक झुंझला उठता है, और यदि उसकी दृष्टि सहानुभूतिपूर्ण हुई, तो वह सतोकी भाव-सम्पत्ति को ही अपने सन्तोषका आधार बना लेता है, क्योंकि संतोकी कलामे जो रस है, उसका शास्त्रीयताके पात्रमें पडकर तिक्त हो जाना स्वाभाविक है। सन्तोकी वाणी जनताकी वाणी है, कविकी नही। अतः उसकी परखके लिये साहित्यिकताका कोई औचित्य नही है। इस क्षेत्रमें शुद्ध दृष्टिका उन्मेष तभी सभव है, जब हम व्यापक रूपसे लोकगीतोका सग्रह करें और उनकी कलात्मक समीक्षाके लिये कुछ सिद्धान्त बनावे। लोकगीतोंकी भावमूलक व्याख्यायें हम बहुत कर चुके हैं; अब आवश्यकता इसीकी है।

लोकगीतो और लोकवार्ताओका अपूर्ण अध्ययन ही हमें निर्गुण-साहित्य की तह तक नही पहुँचने देता। पर देखा जाय तो यही एक कारण नही। आज भी ऐसे अनेक उपेक्षित धार्मिक सम्प्रदाय है, जिनका प्रकाशमे नही आना भी निर्गुण-साहित्यके अध्ययन-आलोचनमे सत्यका बाधक सिद्ध हो रहा है। हालमें ही डा० शशिभूषण दासगुप्तने 'Obscure religious cults' नामक पुस्तकमें बँगला-साहित्यके पृष्ठाधारके रूपमे उपेक्षित धार्मिक सम्प्रदायोका एक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसके द्वारा सन्त-साहित्यकी कुछ-समस्याओके समाधान का दिशा-सकेत होता है। उदाहरणत, इसमे मगल-काव्य की विस्तारसे चर्चा की गयी है; और इस प्रसगमे सहदेव चक्रवर्ती का 'धर्ममंगल', रामदास आदक का 'अनादिमगल' माणिकदत्त का 'चडीमगल', मुकुन्दराम चक्रवर्ती का 'चडीमंगल तथा सीताराम

दास का 'धर्ममगल' आदि बँगला-पुस्तकोका उल्लेख हुआ है। हमारे विचारमे कबीरके 'आदिमगल' में बतायी गयी जटिल सृष्टि-प्रक्रिया को समझनेके लिये इन पुस्तकोका महत्त्व है। लेखकने बगालके नाथ-सम्प्रदायमें प्रचलित ऐसे ही जटिल सृष्टि-विधानकी चर्चा की है, और इस विषय पर 'अनादि-पुराण' या 'हाड-माला-ग्रन्थ', 'अनादि-चरित्र' 'योगीतंत्र कला', 'गोरक्ष-विजय', 'गोपीचन्देर संन्यास' आदि बँगला-पुस्तकोसे उद्धरण भी दिये है। इसी प्रकार सिद्धो और नाथो की चर्चा करते हुए उन्होने 'चौरासी' और 'नौ' को मात्र सख्यावाचक नही मानकर परम्परागत रूपमे रहस्यपूर्ण सिद्ध किया है। हिन्दी-साहित्यके पृष्ठा-धारके रूपमे भी उपेक्षित धार्मिक सम्प्रदायोके ऐसे ही व्यापक और अन्तर्दृष्टिपूर्ण अध्ययनकी आवश्यकता है।

निर्गुण-साहित्यकी परिधि बहुत विस्तृत है। इसके पूर्ण अध्ययन के लिये वर्षोंकी साधना भी शायद ही पर्याप्त हो। वस्तुत यह काम व्यक्तिका नही, सस्थाका है। अत हमे अपने इस तुच्छ प्रयासको आपके समक्ष उपस्थित करते हुए स्वभावत सकोच होता है। इसमें सन्देह नही कि यदि गुरुजनो का आशीर्वाद नही होता तो हम शायद ही यह साहस कर पाते। इसलिये हमारी सफलता का सारा श्रेय उन्हे मिलना चाहिये, और त्रुटियोका उत्तरदायित्व तो हम पर है ही।

श्रद्धेय प० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने काफी व्यस्त होते हुए भी पुस्तक की पांडुलिपि पढकर तथा अपने अमूल्य परामर्शसे इसकी त्रुटियोका बहुत-कुछ निवारण करके हम पर जो अनुग्रह किया है, वह उनकी उदारताका ही परिचायक है। अपने आशीर्वादसे उन्होने हमारा उत्साह और भी बढाया है। और गुरुवर प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा जी के बल पर तो हमने आलोचना-क्षेत्रमे प्रवेश करनेका साहस

ही किया। उनका पथ-निर्देश हमें सदा ही मिलता रहा है। इन दोनों-गुरुजनोंकी कृपा और स्नेह के ऋणमें हम जीवन भर मुक्त न हों, इसी आशा और विश्वास से हम उन्हें धन्यवाद देनेका साहस नहीं कर रहे हैं।

पुस्तककी रचनाके प्रसंगमें जिन मित्रोंसे हमें प्रेरणा मिलती रही है, उनमें बन्धुवर श्री सत्यनारायण तिवारी जी को हम कभी नहीं भूल सकते। उनके तंग करने से ही यह पुस्तक इतनी शीघ्र प्रकाशित हो पायी। इसकी पाण्डुलिपि तैयार करनेमें श्री कुमार सच्चिदानन्द सहायने जो श्रम किया है, उसके लिये वे धन्यवादके पात्र हैं। भाई कैलाशचन्द्र जी खेतानके स्नेह का आधार पाकर ही यह पुस्तक इस रूपमें आपके सामने आ सकी है। उनकी सद्भावनाके लिये तो जो भी कहा जाय, थोड़ा है।

चलते-चलते हम धन्यवादके दो शब्द मुद्राराक्षसोंके प्रति कह देना चाहते हैं, जिनकी कृपासे पुस्तकमें शुद्धि-पत्र की आवश्यकता आ पड़ी, यद्यपि उसका देना पाठकोंके लिये प्रायः कोई अर्थ नहीं रखता।

लेखक।

क्रम

(क) आशीर्वचन — पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, अध्यक्ष, हिन्दी-भवन, शान्ति-निकेतन ।

(ख) अवतरणिका — प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी), साहित्याचार्य, हिन्दी-विभाग, पटना कालेज ।

(ग) अपनी बात — लेखक ।

विषय-सूची

इण्डियन नेशन प्रेस पटना ।

दृष्टिकोण

भाषाके द्वारा भावोकी अभिव्यक्ति मनुष्यका प्रकृत धर्म है। यह अभिव्यक्ति चाहे 'रसात्मक वाक्य' के रूपमे हो या 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द' के रूपमें, इसके दो प्रकार है—मौखिक और लिखित। काव्यमें साधारणतः प्रथमका स्वरूप लोकगीतात्मक और अपरका विशुद्ध साहित्यिक हुआ करता है। पर यह एक उपलक्षण-मात्र है। क्योकि प्राचीन कालमें मौखिक रूपमें भी शिष्ट-काव्यका प्रचुर निर्माण हुआ है, और आजकल तो अधिकांश लोकगीतोकी रचना लिखित रूपमे ही हो रही है। सच तो यह है कि आजतक साहित्यमे, विशेषतः हिन्दी-साहित्यमे, लोकगीत और शिष्ट-काव्यके बीच कोई विभाजक रेखा बनी ही नही। यही नही, विभिन्न बोलियोके साहित्यको हिन्दी-साहित्यका अंग माननेके सम्बन्धमे भी अबतक कोई तर्कसम्मत सिद्धान्त प्रतिष्ठित नही किया जा सका है। सपूर्ण वर्तमान हिन्दी-क्षेत्रमे समय-समयपर जनताके द्वारा एक स्वरसे स्वीकृत विभिन्न शिष्ट-काव्यभाषाओंका हिन्दी-साहित्यके इतिहासमे स्थान पाना युक्तिसंगत हो सकता है। संभवतः इसी सिद्धातके अनुसार व्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोलीका साहित्य हिन्दीका साहित्य माना गया है। लेकिन तब विद्यापति हिन्दीके कवि किस प्रकार कहे जाते है, समझमे नही आता; क्योकि अबतकके शोध कार्यसे यह ज्ञात नही हो पाया है कि मैथिली भी कभी सपूर्ण हिन्दी-क्षेत्रकी सर्वसम्मत काव्य-भाषा रही होगी। अब यदि उपभाषाओके साहित्यको भी हिन्दी-साहित्यका अंग स्वीकार करते है, तो भोजपुरी, मगही, बुन्देलखंडी और छत्तीसगढ़ीकी ऐकातिक अवहेलनाका, और स्वय मैथिलीके ही अन्य कवियोकी पूर्ण उपेक्षाका क्या

समाधान हो सकता है ? राष्ट्रभाषाके क्षेत्रमें यह निरंकुशता इसी तरह चलती रही तो किसी दिन 'निरकुशाः कवय.' के बदले 'निरंकुशाः समालोचका' कहे जानेकी पूरी संभावना है । अत 'पदमनुविधेयं च महताम्' और 'महाजनो येन गतः स पन्था.' को भूलकर हमारे साहित्यके इतिहासकारोंको आज ही निश्चित कर लेना है कि किन-किन बोलियोंके साहित्यको हिन्दी-साहित्यके इतिहासमें स्थान दिया जाय; अन्यथा पुरानी भूलोंकी बार-बार आवृत्ति होते रहना असभव नही । निश्चित सिद्धातोंके अभावमें ऐसी अनेक भूलें हुई है, और होती जायेंगी । उदाहरणके लिये अन्यत्र नहीं जाना है । स्वयं हिन्दीमे ही एक युगका पूरा-का-पूरा लोक-गीतका साहित्य शिष्ट-काव्यकी परम्परामें इस प्रकार रख दिया गया है कि बिना पर्याप्त विवेचनके उसके प्रकृत रूपको समझना कठिन है । और यह कोई साधारण बात नही ।

हमारे मतसे हिन्दीमें 'निर्गुण-धारा'की संज्ञासे अभिहित सम्पूर्ण साहित्य लोकगीतके वर्गका है । अक्सर जब हम राह चलते भिखारियोसे निर्गुणियोंके पद अथवा 'भरथरी' और 'गोपीचन्दवा' गाते सुनते है, तो हमारी यह धारणा और भी दृढ हो जाती है कि निर्गुण-काव्य लोकगीतकी शृंखलाकी एक भूली हुई कड़ी है । यह साहित्य पूर्णतः ग्रामीणोंका है, नागरिकोंका नहीं । इसका सबसे बडा प्रमाण यह है कि अधिकांशमें निरक्षर व्यक्तियोंके द्वारा इसका निर्माण हुआ; और यह शिक्षित जनताकी अपेक्षा अशिक्षितोंमें ही विशेष समादृत भी होता रहा है । साक्षर नागरिक अध्ययनके लिये, बुद्धि-विलासके लिये, निर्गुण-काव्यको उसी तरह पढते हैं, जिस तरह 'कामायनी' या 'कुरुक्षेत्र' को । और निरक्षर ग्रामीण इसमें अपने हृदयका स्पंदन उसी तरह प्रकट करते या सुनते है, जिस तरह 'आल्हा' और 'विरहा' में । यह निश्चित है कि अक्षर-ज्ञान-शून्य व्यक्ति कभी शिष्ट-काव्यका निर्माण नहीं कर सकता, साक्षर अलबत्ता लोक-गीत लिख सकता है । 'विश्वकी रूप-रेखा' और 'दर्शन-दिग्दर्शन' का विद्वान् लेखक सामान्यतम स्तरपर आकर लोकगीतोंकी रचना भले ही

कर ले, पर 'भिखरिया'-जैसा निरक्षर व्यक्ति अपनी संपूर्ण प्रतिभाका उपयोग करके भी शिष्ट-काव्यका सर्जन कर सकेगा, यह माननेकी बात नहीं। यही बात निर्गुण-कवियोके साथ है। शिष्ट-काव्यके निर्माणके लिये अपेक्षित अलकार, वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि और रसके सिद्धातोसे लेकर पिगल शास्त्रके सामान्य नियमो तकका ज्ञान तो दूर रहा, व्याकरणकी साधारण जानकारी भी निर्गुण-कवियोंको नही थी। दोहा-जैसे छंदको भी पिगलकी खराद पर नही चढा सकनेवाले कबीरके अनेक पदोकी प्रकृतिका 'बिरहा' के अमात्रिक, अतुकात, गेय पदोकी प्रकृतिसे स्वाभाविक साम्य है। किसी पंक्तिके बीचमे 'रे' या 'हो' घुसा देनेकी प्रवृत्ति कबीरमे उसी प्रकार हे, जिस प्रकार निरक्षर अल्हैतोमे। अनेक स्थानोपर प्रश्नोत्तर-शैलीमें निर्मित निर्गुण पद मिलते है; यह शैली लोकगीतोमे बहुलतासे पायी जाती हे। इनके अतिरिक्त एक ही लोकगीतमें अनेक भाषाओके शब्द ही नहीं,, बलिक क्रिया-पद, संयोजक शब्द तथा कारक-चिह्नोका भी पाया जाना उसे शिष्ट-काव्यकी श्रेणीमे आनेसे रोकता है। निर्गुण-काव्यमे भी यही बात है। इसी प्रकार निर्गुण-काव्य और लोकगीतों-में आश्चर्यजनक रूपसे ऐसी अनेक समानताये मिलेंगी, जिन्हे एकबारगी आकस्मिक कहकर टाला नही जा सकता। हम समझते है कि हिन्दीका कोई ऐसा विद्वान् नही होगा, जिसे ग्राम्यगीतोको पढने या सुननेका कभी अवसर न मिला हो, अथवा जिसमे लोकगीत और शिष्ट-काव्यके पृथक्-करणकी थोडी-बहुत क्षमता न हो। अतः तुलनाके लिये हम धरमदासके तीन सोहरके पद और 'भोजपुरी ग्रामगीत' (ले० प० कृष्णदेव उपाध्याय) से तीन गीत साथ-साथ उद्धृत करते है। हमें तो इन्हे पृथक्-पृथक् वर्गोमे रखनेका कोई कारण नही जान पड़ता। विचार कर देखनेपर इन सबोमें समान रूपसे लोकगीतोकी विशेपताये मिलेगी——

(१) "कहँवाँ से जिव आइल, कहँवाँ समाइल हो।
कहँवाँ कइल मुकाम, कहाँ लपटाइल हो॥

निरगुनसे जिव आइल, सगुन समाइल [illegible] ।
कायागढ़ बड़ मुकाम, माया [illegible] हो ॥
एक बुन्दसे साजा गढ़ ठाढ़ [illegible] हो ।
दुइ पगे नहि जाय पार [illegible] हो ॥
हम कहे मानि न बर, हम [illegible] हो ।
मोर-तोर एतन दिवार बहुरि नहि [illegible] हो ॥
इहवाँ कोउ नहि आपन, केहि संग बोलै हो ।
बिच तरवर मैदान, अकेला डोलै हो ॥
लख चौरासी भरमि, मनुष तन पाइल हो ।
मानुष जनम अमोल, अपन सों खोइल हो ॥
साहेब कबीर सोहर गावल, गाइ सुनावल हो ।
सुनहु हो धरमदास, एही चित चेतहु हो ॥”

—धरमदास ।

(२) “खेलत रहलूँ अँगनवाँ सखी संग साथी हो ।
आइ गवन निगिचाय, उठत भये धूमिल हो ॥
पहिले गवनमा गैलूँ पनियाके भेजलन हो ।
देखि कुवाँ कै रूप, मने पछितैलूँ हो ।
कुवाँ भीर भइ भारी, तो गागर फूटल हो ॥
कौन उतर घर देब, हाथ दोउ छूछे हो ॥
घर मोरी सास दारुनी, नो ननद हठीली हो ।
केहिसे कहब दुख आपन, संगी न साथी हो ॥
ठाढ़ि मोहारै धनि सुसुकै, मने पछिताइल हो ।
पिया मोसे मुँखहुँ न बोले, कवन गुन लागल हो ॥
सजनकी ऊँची अटरिया, ना चढ़त लजाऊँ हो ।
कल नहि लेत पहरुआ, कवन विधि जाइब हो ॥
गल गजमोती कै हार, तो दीपक हाथै हो ।
भमकि के चढलूँ अटरिया पुरुष के पासै हो ॥

कहैं कबीर पुकारि, सुनो धर्म आगर हो।
बहुत हंस लै साथ, उतरु भवसागर हो॥'

—धरमदास।

(३) "सतगुरु आये द्वार, सुरति रस बिजना।
काहेके बैठक देउँ, सुरति रस बिजना॥
चन्दन पीढ़ी बैठक, सुरति रस बिजना॥
नारी नर चरन पखारो, सुरति रस बिजना॥
भात रीधो रस दूध, सुरति रस बिजना।
धोइ मूँग कै दाल, सुरति रस बिजना॥
काहे को थाल परोसो, सुरति रस बिजना।
काहे कटोरी आन दूध, सुरति रस बिजना॥
सोने कै थार परोसो, सुरति रस बिजना।
रूपे कटोरी आन दूध, सुरति रस बिजना॥
जेंइ लेहु सतगुरु पाहुन, सुरति रस बिजना।
मुख भरि देहु असीस, सुरति रस बिजना॥
पाथर को का पूजै, सुरति रस बिजना।
मुख बोलै ना खाय, सुरति रस बिजना॥
साँचे पूजहु साध, सुरति रस बिजना।
मुख बोलै औ खाय, सुरति रस बिजना॥
आइ पिया मुख पाउ, सुरति रस बिजना।
करि लेहु सबद सिंगार, सुरति रस बिजना॥
बिजना बिजना सब कहैं सुरति रस बिजना।
बिंजन लखे न कोइ, सुरति रस बिजना॥
कहैं कबीर धर्मदास, सुरति रस बिजना।
रहत अमरपुर छाय सुरति रस बिजना॥"

—धरमदास।

(४) "सूतल रहलो ओसरवा हो, गुरुजी दिहले जगाइ ।
गवना के दिना नियरा गइले हो, मन गइल घबराइ ॥
गुरुजी हो गुरुजी पकरिलऽ हो, गुरुजी सरन तोहार ।
रची एक दिहिती गुरु हुकुनवाँ हो, चउरल करि अइतो दान ॥
कोठिला भरल बाटे चउरा हो, गुरुजी कई अइतो दान ।
रची एक दिहती गुरु हकुमवाँ हो, गुरुजी कइ अइतो दान ॥"
—'भोजपुरी ग्रामगीत' ।

(५) "तुमुवाँ गिराइ कहाँ जइवो हो कहो आपन ठेकान ।
काहे को लगवल ववुरिया हो लगवतऽ तू आम ॥
अमिरित करतऽ भोजनियाँ हो भजतऽ हरिनाम ॥
प्रेम बाग नहि बौरे हो, प्रेम न हाट विकाय ।
विना प्रेमके मनुजवो हो, जस अँधिरिया राति ॥
प्रेम नगरकी हटिया हो, हीरा रतन विकाय ।
चतुर चतुर सौदा करि गये हो, मूरख ठाढे पछताय ॥"
—'भोजपुरी ग्रामगीत' ।

(६) ×का देखिके मन भइले हो दिवाना, का देखिके ।
मानुख देह देखि जनि भूलऽ, एक दिन माटी होइ जाना ॥
आरे ई देहिया कागज के पुड़िया, बून पडत मिटि लाना ।
एहि देहियाके मलि मलि धोवलो, चोआ चनन लगाई ॥
ओहि देहिया पर कागा भिनके, देखत लोग घिनाई ॥"
—'भोजपुरी ग्रामगीत×।

कहना नहीं होगा कि भाषा, भाव और अभिव्यंजना-शैली तथा प्रचार-क्षेत्र आदि सभी दृष्टियोंसे उपरोक्त पदोंमे किसी प्रकारका विषमताकी कोई गुंजाइश नहीं दीख पडती । हम यहाँ तक कहेंगे कि ये सभी पद 'धरमदास जीकी शब्दावली' और 'भोजपुरी ग्रामगीत' दोनोंमे समान रूपसे खप सकते हैं । हमारा दावा है कि रसलीन और विहारीके

दोहोको भी नीर-क्षीरवत् पृथक् कर सकनेवाली आँखे इन पदोका पृथक्-पृथक् स्थान निर्धारित नही कर सकेंगी। इनके बीचकोई प्रकृत विभाजक रेखा है ही नही। यह तो एक उदाहरण-मात्र ह। इसको दृष्टिगत रखते हुए, स्थाली-पुलाक-न्यायसे निर्गुण-काव्य और लोकगीतोंका अभिन्नता समभी जा सकती है। निर्गुण-काव्यको शिष्ट-साहित्यसे हटाकर लोकगीतोके समकक्ष ले आनेमे हमारा उद्देश्य केवल उसके उचित स्थानका निर्धारण नही, एक परम्परागत भ्रमका निवारण भी नही, बल्कि हमारी यह धारणा है कि निर्गुण-काव्यकी स्थिति स्पष्ट हो जाने-पर उसकी आलोचनाकी प्रणालीमे परिवर्त्तन होगा; एवं संतोके काव्यमें यति-भंग और उक्ति-वैचित्र्यके अभावका रोना रोनेवाले, तथा 'खिचड़ी' और 'सधुक्कड़ी' कहकर उनकी भाषाकी आलोचना करनेवाले विद्वान् अपना मानदण्ड बदलेंगे। तभी भाव और भाषा दोनो दृष्टियोसे हमारा संत-साहित्यका अध्ययन न्यायसंगत हो सकेगा।

निर्गुण-काव्यको शिष्ट-साहित्य मान लेनेका भ्रम तो हमे तब हो जाता है, जब हम अन्यान्य लोकगीतोकी तरह इसकी व्याप्ति स्त्री-समाजमे नही पाते। पर इसके कारण है। निर्गुण-काव्यमे निवृत्ति-भावना सर्वोपरि है, और निवृत्ति स्त्रियोका स्वाभाविक गुण नही। गृहस्थ पुरुष तो राग-प्रधान होकर भी वैराग्य ले सकते है, पर इक्की-दुक्की स्त्रिया ही यह राह पकडती है। वैराग्य लेना तो दूर रहा, वे मुक्ति पथकी बाधा तक समभी गयी है। स्वय निर्गुणियोने प्रकारान्तरसे नारी-जातिका इतनी निन्दा की है कि वह कान बन्द करके भी उनके गीत सुनना नही चाहती। इसके अतिरिक्त स्त्रियाँ स्वभावत· रूढि-ग्रस्त हुआ करती है। अत· निर्गुण-काव्यके प्रति उन्हे आकर्षण नही होता, क्योकि उसमे रूढ़ि और अन्ध-परपराके प्रति प्रचड विद्रोहकी भावना व्यक्त की गयी है। इन्ही सब कारणो से निर्गुण-काव्य स्त्री-समाज मे आदर नही पा सका है। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि नारी-मात्र का उससे परिचय

नहीं। ब्रह्म-विषयक पदों का तो कम, पर संसार को माया, मिथ्या और क्षणभंगुर बतानेवाले पदों का बूढ़ी स्त्रियों में अधिक प्रचार देखा जाता है, क्योंकि ये उनकी मनोवृत्तिके सर्वथा अनुकूल पड़ते हैं। आत्म-तोषके लिये वे प्रायः कहा करती हैं—'पछी को लाख जतन से पिंजड़े में कैद किया जाय, पर एक दिनकी गफलतमें वह पिंजड़ेको छोड़कर कहीं चला जाता है—दूर, बहुत दूर, जहाँ से फिर वह लौटकर नहीं आता।'

"बड़ोई जतन से पिंजड़ा बनायो।
तामे घने घने तार लगायो जी॥
तुजाके कागद में पिंजरा मढ़ाय दयो।
मेरो पछी न कहुँ उड़ जाय री॥
एक दिना-सो गाफिल हुइ गयी।
तोता निकरि गयो करँ हाय जी॥
खिरकी न खुली कोई तारू न टूटे।
जाके निकर गयो कौन राह जी॥
बाग बगिया बनखंड सब ढूँढ़े।
कहुँ पछी न मिले मोरे रामजी॥"

* * *

"जाओगे हम जानी, मन तुम जाओगे हम जानी॥
चार सखी मिलि चलि हैं बजारे एकते एक सयानी।
सौदा करी मनैं ना भाई उठि गई हाट पछतानी॥
राज करते राजा जइहैं कमलापत सी रानी।
वेद पढते ब्रह्मा जइहैं जोग करते ज्ञानी॥
सूरज जइहैं चन्दा जइहैं जइहैं पवन औ पानी।
एक बेर धरती चलि जइहैं ह्वैहैं बात पुरानी॥
चार जतन को बनो पीजरा जामे वस्तु बिरानी।
आवेंगे कोई लोग दिखनिया डूब जाय बिन पानी॥"

अबतक लोकगीतो के जितने भी सग्रह प्रस्तुत किये गये है, वे सब प्रायः स्त्रियों की सहायता से। यही कारण है कि उन लोकगीतोमें सभी स्वर है, पर कबीर और दादूका स्वर नही। वास्तविकता यह है कि निर्गुणपरक गीत सबसे कम स्त्रियो मे, उससे कुछ अधिक पुरुषों में, और सर्वाधिक संन्यासियों और भिखारियोमे प्रचलित है। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है। धर्म और ज्ञान की बाते प्रतिदिन जाप करने से बुद्धि में नहीं घसती। इस तरह तो वे नीरस-सा विषय बन जाती है। उनका प्रभाव तो तब पड़ता है, जब वे उपयुक्त अवसरपर राह चलते भिखारियों और साधु-संतो-द्वारा गाते हुए सुनी जाती है। प्राय इन गीतोमें निर्गुणपरक भावनाकी अभिव्यक्ति रहा करती है। जैसे—

"मै न लडी थी बलमा चलै गये।
रगमहलमे दस दरवाजा, ना जानी खिडकिया खुली थी।
पाँचो जनी मोरी रान्ह परोसिन तुमसे बलम कछु कहिउ न गये।"या
"काया कैसे रोई रे चल गये प्राण।
हम जानी काया सँग जैहैं, सो मल-मल धोई रे।

* * *

चार गजी चरगजी मँगायो सजा काठकी घोड़ी।
चार जने काँधे धर ले गये जाय उतारो मरघटमे।
देहरी लो महरीको नातो, लोग कुटुम्ब मरघटके साथी।
हंस अकेला जाइ रे—चल गये प्राण॥
तीन दिना लों तिरिया रोवे, छ महीना सगा भाई।
जनम जनम लो माता रोवे, कर गये आस पराई।
हाड जरे जस करकट कूरा, केस जरै जस घासको पूरा।
फूँक दई फागुन कैसी होरी,—चल गये प्राण॥"

अगर लोकगीतोका संग्रह साधु-संतो और भिखारियोकी सहायतासे किया जाय, तो नब्बे प्रतिशत गीत ऐसे मिलेंगे, जो निर्गुणपरक है। और हम

यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि इनमेंसे अधिकांश गीत वे ही होंगे, जिन्हें हम कबीर, दादू प्रभृति संत-कवियोंके नामसे शिष्टकाव्यके रूपमें जानते आये हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि हिन्दी-साहित्यकी निर्गुण-धारा लोकगीतोंका ही विकसित रूप है। केवल उसके मुक्तक ही लोक-गीतात्मक नहीं, बल्कि प्रबन्ध-काव्य ('पदमावती', 'मृगावती', 'मधु-मालती', 'नुरजावती', प्रेमावती') भी लोक-प्रचलित कथानकोंको ही आश्रय देते हैं। इनके कथानक तत्कालीन समाजमें अशिक्षित जनताको विशेष प्रिय थे, इसमें सन्देह नहीं; विद्वत्समाजमें तो यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी, दुष्यन्त-शकुन्तला और उदयन-वासवदत्ताका ही अधिक प्रवेश रहा होगा, जिन्हें सूफियोंने जानबूझकर छोड़ दिया। यहाँतक कि उन्होंने सर्व-स्वीकृत शिष्टकाव्यकी भाषा अवधीमें लिखते हुए भी अपनेको तत्सम शब्दोंके आडम्बरसे इस हदतक बचाया कि वे तथाकथित संस्कृत-समाजसे अधिक लोक-जीवनके कवि हो सके!

लोकगीतोंमें हम जो कुछ भी समझते हैं, सर्वांगतः नहीं, तो अधि-कांशतः अवश्य ही निर्गुण-काव्यसे उसका सादृश्य परिलक्षित होता है। लोकगीतकारोंकी तरह निर्गुणियोंने भी जनताको स्वच्छन्द, मुक्तप्रवाहिनी भाषामें अपनी भावनाओंकी सरल, सरस, गेय अभिव्यक्ति की है, जिसका मधुर प्रवाह तथाकथित साहित्यिकता, और उसके निरर्थक वाग्जालके अभाव में अबाध रूपसे लोक-जीवनको रसप्लावित करता आ रहा है। उन्हें अपने काव्यको न तो 'नानापुराणनिगमागमसम्मत' बनाने की परवाह रही, और न उसपर भड़कीली साज-सज्जा अथवा चमत्कारपूर्ण नक्काशी या मुलम्मा चढ़ाने की चिंता। उनकी कविताकी सरणी लोकजीवनसे, विवश, उपेक्षित जनताकी विगलित कारुण्यधारासे अपने स्वाभाविक रूपमें निःसृत हुई है। और अशास्त्रीय अक्खड़पनके साथ-साथ प्राकृतिक माधुर्य ही तो 'आल्हा' की, 'बिरहा' की, लोकगीतों की विशेषता है।

शिष्ट-काव्य की-सी शास्त्रीय संगीतयोजना लोकगीतोंमें नहीं पायी जाती। निर्गुण-काव्यमें भी इसका नितान्त अभाव है। ढोलक

और झालपर गाकर संगीतकी अजस्र धारा बहानेवाली गाँवकी स्त्रियाँ राग-रागिनियोके नामतक नही जानती। उसी प्रकार सारंगी और एकतारापर निर्गुण गानेवाला साधु भला क्या समझे कि आरोह और अवरोह क्या है, मीड और मूर्च्छना क्या है! प्रसादजी अपने नाटकके अन्तमें उसके गीतोकी स्वरलिपियाँ दे सकते है, पर कबीर और दादूके पदोकी स्वरयोजक तो उनकी डफली या खँजड़ी ही रही होगी। तुलना-की तुलापर तौल कर हम सितार और डफलीका, प्रसाद और कबीरका, एवं अन्तत: शिष्टकाव्य और लोकगीतका अन्तर समझ सकते है। पग-पगपर कृत्रिम नागरिकताके अभाव, और ग्रामीण स्वाभाविकताके प्राचुर्य-के कारण लोकगीतोंमे इतनी उत्कृष्ट कलाका समावेश हो जाता है कि उनके सामने कितने ही उत्कृष्ट माने गये कवियोकी कवितायें फीकी पड़ जाती है। हृदय हृदयकी भाषा समझता है, और लोकगीतोमे हृदयकी जैसी नैसर्गिक अभिव्यक्ति हुआ करती है, वह अन्यत्र सम्भव नही। अन्तस्साधना और प्रातिभ-ज्ञानके कारण निर्गुण-काव्यमे भी हृदय-पक्ष इतना प्रधान हो गया है कि हम उसे लोकगीतोमे स्थान देते है।

भाषाकी दृष्टिसे विचार करनेपर भी लोकगीतों और निर्गुण-काव्यमे सादृश्य पाया जाता है। जिस तरह लोकगीतोमे कई बोलियोका सम्मिश्रण होता है, उसी तरह अधिकाश निर्गुणिये गीतोमे भी। यही नही, जिस तरह एक ही लोकगीत थोड़े-बहुत परिवर्तनके साथ अनेक बोलियोमे पाया जाता है, उसी तरह एक ही पद थोडे-बहुत परिवर्तनके साथ अनेक निर्गुणियोके द्वारा कहा गया है। कही-कही तो यह परिवर्तन बिलकुल ही नही रहता। जैसे—

(१) "जहि मन पवन न सचरइ रवि शशि नाह पवेश।
तहि वट चित्त विशाम करु सरुहे कहिअ उवेश॥"

—सरहपा।

"जिहि वन सीह न सचरैं पंखि उडैं नहि जाय ।
रैनि दिवस का गम नहीं तहाँ कबीर रहा लौ लाय ॥"—कबीर ।

(२) "पठि पठि पठि केता मुआ, कथि कथि कथि कहा कीन्ह ।"
—गोरखनाथ ।

"पोथी पढि पढि जग मुआ, पंडित भया न कोय ।" —कबीर ।

(३) "सुनहु सबन मिलि विप्रमती सी
हरि बिन बूडे नाव भरी सी ॥
ब्राह्मण होके ब्रह्म न जानै ।
घर मह जगत परिग्रह आनै ॥
जे सिरिजा तेहि नहि पहिचानै ।
कर्म भरम ले बैठि बखानै ।
ग्रहण अमावस सायर दूजा ।
स्वस्तिक पात प्रयोजन पूजा ॥
प्रेम कनक मुष अन्तर वासा ।
आहुति सत्य होम कै आशा ।
उत्तम कुल कलि माँहि कहावै ।
फिरि फिरि मध्यम कर्म करावै ॥
* * *
हंस देह तजि न्यारा होई ।
ताकी जाति कहौ धूँ कोई ॥
श्वेत श्याम की राता पियरा ।
अवर्ण वर्ण की ताता सियरा ॥
हिन्दू तुरक की बूढी बारा ।
नारि पुरुष मिलि करहु विचारा ॥
कहिये काहि कहा नहि माना ।
दास कबीर सोई पै जाना ॥"
—कबीर ।

"सबको सुणियां विप्रमती सा।
हरि बिन बूडे नाव भरी सी॥
बॉमण छै पांण ब्रह्म न जाणे।
घर मे जगत परिग्रह आणे।
जिन सिरजे ताकू न पिछाणे।
करम भरम कू बैठि बखाणै॥
ग्रहण अमावस थाचर दूजा।
सूत गया तब प्रोजन पूजा॥
प्रेत कनक मुष अतरि बासा।
सती अऊत होम को आसा॥
कुल उत्तम कलि माहि कहावै।
फिर फिर मध्यम कर्म कमावे।

* * *

हंस देह तजि नयरा होई।
ताकर जाति कहऊँ दहुँ कोई।

* * *

स्याह सुपेत कि राता पीला।
अवरण वरण कि ताता सीला॥
अगम अग चर कहत न आवै।
अपणै अपणै सहज समावै॥
समझि न परै कही का मानै।
परसाराम होइ सोइ जानै॥"

——परशुराम।

(ना० प्र० प०, वर्ष ४५, अक ४, माघ १९९७)।

(४) "ऊभा मार बैठ विचार सभार जागत मूता।
तीन लोक तत जाल विडारण तहाँ जाइगा पूता॥"

——दादू।

"उठ्या मारन बैठ्या मारन मामाल जागत सूता ।
तिन भुवने विछाइना जाल कइ यावि रे पूता ॥"
——बंगाली नाथपथी ।

"ऊभा मारूँ बैठा मारूँ मारूँ जागत सूता ।
तीन भवन भगजाल पसारूँ कहाँ जायगा पूता ॥"
—(राजस्थानी नाथपंथियोंमें प्रचलित माया-वाक्य)

"उट्या मारुम बैठ्या मारुम मारुम जागत सूता ।
तिन थाने काम जाल विछाइमू कइ जावि रे पूता ॥
(तिन सवे भगजाल विछाइमू . ...)"
——बंगाली नाथपथी ।

(५) "ऊभा खण्डूँ बैठ्या खण्डूँ खण्डूँ जागत सूता ।
तीन भवन ते भिन्न ह्वै खेलूँ तो गोरख अवधूता ॥"
——राजस्थानी दादूपंथी ।

"उठ्या खडुम बैठ्या खडुम खडुम जागत सूता ।
तिन भुने खैलुम आल्गा तय तो अवधूता ॥"
——बंगाली नाथपंथी ।

इस प्रकारकी आश्चर्यजनक समानतायें शिष्ट-काव्यमें नहीं पायी जाती। लोकगीत और शिष्ट-काव्यमें इतनी असमानताओंके होनेका यह तात्पर्य नहीं कि लोकगीतोंमें शिष्ट-काव्यके सभी तत्त्वोंका ऐकांतिक अभाव है। उनमें भी मात्रायें और छंद है; अलंकार, उक्ति-वैचित्र्य और ध्वन्यात्मक व्यंजना है। अंतर केवल इतना ही है कि लोकगीत जहाँ प्रकृत काव्य हैं, वहाँ शिष्ट-काव्य प्रयास-जन्य। लोकगीतोंका यही सहज सौंदर्य उनकी आत्माको अमर बना देता है।

"It is not the question of authorship that is important in a folk, but that of spontaniety and beauty."

—Encyclopaedia Britanica (*Vol. IX*)

ग्रिमके शब्दोंमें लोकगीत अपने आप बनते हैं—" A folk song composes itself. "। शिष्ट-काव्यकी तरह इनमें छंदोंका प्रतिबन्ध नहीं रहता। छन्द रहते हैं अवश्य, पर भावोंकी व्यंजनाके साथ स्वतः लगे हुए। निर्गुण-काव्यमें यह विशेषता अधिकतर पायी जाती है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है।

अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि निर्गुण-काव्यके मूल्यांकन के लिये वह मानदण्ड उचित नहीं, जिसके आधारपर शिष्ट-काव्यकी आलोचना हुआ करती है। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी-जैसे निर्गुण-साहित्य-के मर्मज्ञ आलोचकने भी इसके अध्ययनके लिये शास्त्र-ज्ञानकी अपेक्षा लोक-गीत, लोक-कथानक और लोकोक्तियोंकी जानकारी आवश्यक बतायी है। इससे यह सिद्ध होता है कि निर्गुण-काव्य संस्कृत-समाजकी अपेक्षा लोक-जीवनसे अधिक संबद्ध है। इसलिए शास्त्रीय कसौटीपर इसकी परीक्षा निराधार होगी। यही हमारा दृष्टिकोण है।

"उठया मारन वठया मारन मामाल जागत सूता ।
तिन भुवने विछाइना जाल कइ यावि रे पूता ॥"
——बंगाली नाथपथी ।

"ऊभा मारू बैठा मारूँ मारूँ जागन सूता ।
तीन भवन भगजाल पसारूँ कहाँ जायगा पूता ॥"
—(राजस्थानी नाथपथियोंमे प्रचलित माया-वाक्य)

"उठया मारुम बैठ्या मारुम मारुम जागत सूता ।
तिन धामे काम जाल विछाइमू कइ जावि रे पूता ॥
(तिन भवे भगजाल विछाइनू ....)"
——बंगाली नाथपथी ।

(५) 'ऊभा खण्डूँ बैठ्या खण्डूँ खण्डूँ जागत सूता ।
तीन भवन ते भिन्न ह्वै खेलूँ तो गोरख अवधूता ॥"
——राजस्थानी दादूपथी ।

"उठया खडुम बैठ्या खडुम खडुम जागत सूता ।
तिन भुने खेलुम आलग तय तो अवधूता ॥"
——बंगाली नाथपथी ।

इस प्रकारकी आश्चर्यजनक समानतायें शिष्ट-काव्यमें नहीं पायी जाती। लोकगीत और शिष्ट-काव्यमें इतनी असमानताओंके होनेका यह तात्पर्य नहीं कि लोकगीतोंमें शिष्ट-काव्यके सभी तत्त्वोंका ऐकांतिक अभाव है। उनमें भी मात्रायें और छंद है; अलंकार, उक्ति-वैचित्र्य और ध्वन्यात्मक व्यंजना है। अंतर केवल इतना ही है कि लोकगीत जहाँ प्रकृत काव्य है, वहाँ शिष्ट-काव्य प्रयास-जन्य। लोकगीतोंका यही सहज सौंदर्य उनकी आत्माको अमर बना देता है।

"It is not the question of authorship that is important in a folk, but that of spontaniety and beauty."

——Encyclopaedia Britanica (*Vol. IX*)

ग्रिमके शब्दोंमें लोकगीत अपने आप बनते हैं—" A folk song composes itself. " । शिष्ट-काव्यकी तरह इनमें छंदोंका प्रतिबन्ध नहीं रहता। छन्द रहते हैं अवश्य, पर भावोंकी व्यंजनाके साथ स्वतः लगे हुए। निर्गुण-काव्यमें यह विशेषता अधिकतर पायी जाती है, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है।

अतः यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि निर्गुण-काव्यके मूल्यांकन के लिये वह मानदण्ड उचित नहीं, जिसके आधारपर शिष्ट-काव्यकी आलोचना हुआ करती है। प० हजारी प्रसाद द्विवेदी-जैसे निर्गुण-साहित्य-के मर्मज्ञ आलोचकने भी इसके अध्ययनके लिये शास्त्र-ज्ञानकी अपेक्षा लोक-गीत, लोक-कथानक और लोकोक्तियोंकी जानकारी आवश्यक बतायी है। इससे यह सिद्ध होता है कि निर्गुण-काव्य संस्कृत-समाजकी अपेक्षा लोक-जीवनसे अधिक संबद्ध है। इसलिए शास्त्रीय कसौटीपर इसकी परीक्षा निराधार होगी। यही हमारा दृष्टिकोण है।

निर्गुण-धाराका मूल स्रोत—
भारतीय या अभारतीय ?

हिन्दी-साहित्य की निर्गुण-धारा निर्गुण ब्रह्म की उपासना; ब्रह्मात्मैक्यवाद की सस्थापना; वाह्य जगतके वदले अन्तर्जगतमे विचार-केन्द्र की व्यवस्थिति; अहंभावके तिरोभाव; प्रेम-अहिसा के प्रचार; अलौकिक की रहस्यात्मक प्रेमानुभूति; यौगिक प्रक्रियाओ की मान्यता; नाम-स्मरणके अतिशय महत्त्व; सच्चे साधु, सत्सग और सद्गुरुकी सर्वाधिक स्वीकृति; लिपिवद्ध ज्ञानकी अपेक्षा गुरु-प्रदत्त और प्रातिभ ज्ञानकी प्रमुखता; वर्णाश्रम-धर्म के प्रति अनासक्ति; वैदिक कर्मकाडकी वहिर्मुखी प्रवृत्तिके विरोध; सवर्ण-अवर्ण, ऊंच-नीचके भेदके पराभव, तथा हिन्दू-मुस्लिम, दो भिन्न सस्कृतियो को मानवताके धागेसे वाँधने की भगीरथ चेष्टा; रूढ़ि और अंधविश्वास के मूलोच्छेद; मूर्तिपूजाके खडन; एवं ब्रह्मचर्य-पालन, सतोष, दया, क्षमा, शील, सार-ग्रहण, सत्य-भाषण, विचार-शुद्धि, कामिनी-कंचन-त्याग आदि सत्प्रवृत्तियो पर आधारित एक मूलतः भारतीय भक्ति-पद्धतिका काव्यात्मक संस्करण है। सारे निर्गुण-काव्यमें न्यूनाधिक अशमें इन प्रवृत्तियोकी अभिव्यक्ति पायी जाती है, तथापि सभी निर्गुण-कवियोको एक वर्गमें नही रखा जा सकता। दार्शनिक आधारकी दृष्टिसे इनके कई वर्ग हो सकते है, जिसपर इसी पुस्तकमे अन्यत्र विचार किया गया है। इसमे सन्देह नही कि प्रायः सवोने बहुदेववादका खडन किया है, पर यह नही कहा जा सकता कि सभी अद्वैतवाद को मानते है। निर्गुण-काव्यमें प्रमुख रूप से दर्शनकी तीन अन्तर्धारायें प्रवाहित हो रही है। दादू, सुन्दरदास,

जगजीवनदास, भीखा और मलूकदास ने अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की है, नानक और उनके अनुयायियो ने भेदाभेदका, और शिवदयाल ने विशिष्टाद्वैत का। प्राणनाथ, दरिया साहब (द्वय), दीनदरवेज, बुल्लेशाह आदि शिवदयालके अधिक निकट है। अतः इनपर भी विशिष्टाद्वैत का ही प्रभाव मानना चाहिए। कबीर सामान्यत. अद्वैतवादी लगते है। पर उनके 'राम' और वेदान्तियोके निर्गुण ब्रह्म मे मौलिक अन्तर है। कबीरदास अपने 'राम' को आकार-प्रकार, द्वैत-अद्वैत, भाव-अभाव—सबके परे समझते है। इस प्रवृत्ति को 'परात्परवाद' कहा गया है। इस प्रकार निर्गुण-कवियोमे परस्पर सैद्धान्तिक विभिन्नता मिलती है। किन्तु इसमें सन्देह नही कि व्यावहारिक रूपमे उनकी मूल चेतना एक ही है, और उनमे समानता का ही स्वर सर्वोपरि है।

उपर्युक्त विशेषताओमेसे कुछका संत-साहित्यमे सन्निवेश तत्कालीन राजनीतिक उलटफेरके कारण हुआ होगा, पर निर्गुणमतकी आधारभूत प्रवृत्तियोको हिन्दू-जातिके पराजयसे सबद्ध करना हमे कुछ युक्तिसगत नही लगता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और पं० चन्द्रबली पांडेय आदि मान्य अलोचकोकी इस भ्रान्त धारणाके निराकरणके लिये प० हजारी प्रसाद द्विवेदी को 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', 'सूर-साहित्य' और 'कबीर'में इस प्रसंगकी सविस्तार चर्चा करनी पड़ी है। आपके मतकी आंशिक स्वीकृति आचार्य क्षिति-मोहन सेन की 'भारतीय मध्ययुगेर साधना' में भी मिलती है। सेन महोदयने भी शुक्लजी की तरह यह माना है कि मुसलमानोके धार्मिक विचारो और वेद-विरोधी सिद्धान्तोके ही प्रतिक्रिया-स्वरूप उत्तर भारतमें भक्ति की धारा प्रवाहित हुई, वैसेही, जैसे द्राविड़ोके संघर्षसे वैदिक युगमें भक्तिका स्रोत उमड़ा था *। आचार्य शुक्ल और आचार्य सेनमें

* Medieval Mysticism of India

यहीं आकर सैद्धान्तिक मतभेद दीख पड़ता है। जहाँ शुक्लजीने मध्य-युगीन भक्ति-स्रोत का स्वतन्त्र अस्तित्व माना है, वहाँ सेन महोदय इसका संबंध वैदिक युगसे बताते हैं ×। डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वालने भी 'Nirgun School of Hindi Poetry' में निर्गुण-साहित्यके औपनिषदिक आधार पर विशद रूपसे विचार किया है (पृ० ६०-६३)। पर शुक्ल जी और डा० रामकुमार वर्मामें इस संबंधमें कोई मौलिक मतभेद नहीं।

भारतीय चिन्तन की पवित्र सुरसरिता, जो ऋग्वेद-कालसे ही ऋषि-मुनियोंकी ज्ञान-गरिमा लिये हुए गंगोत्रीसे निकल कर हिमालयकी उपत्यका होती हुई बह रही थी, कालभेदसे कर्मकाडकी समतल भूमि पर पहुँचकर मटमैली हो गयी। इसे महावीर और गौतमने पुन शुद्ध करके लोककल्याणमयी बनाया। फिर वही स्रोतस्विनी मगोल, शक, कुशान, गुर्जर और हूण-संस्कृतियोंसे नि सृत धाराओंको आत्मसात् करती हुई आगे बढी, पर तान्त्रिकों और वाममार्गियोंके विषाक्त प्रभावसे इतनी दूषित हो गयी कि अज्ञ जनताके अतिरिक्त किसीने उसमें अवगाहन नहीं किया। ऐसा जान पड़ता है, मानो बौद्ध-धर्मके समस्त सदाचार और स्वच्छताकी मन्दाकिनी तंत्र-मंत्रके बीहड़ मरुस्थलमें जा छिपी हो, गुमराह हो गयी हो। तभी तो शंकरने बुद्धको 'अनाप-शनाप बोलनेवाला, दुनिया का दुश्मन' † कहा, और कुमारिल भट्टने बुद्धके उपदेशको 'कुत्तेकी खालमें पड़े दूध-जैसा निकम्मा' + बताया। उस समय सायण, माधव, उव्वट, दुर्गा, आनन्दतीर्थ, भट्टभास्कर प्रभृति विद्वानोंने वेदों पर सारगर्भित भाष्य लिख-लिखकर वैदिक धाराको

× वही।

† "सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्व प्रद्वेषो वा प्रजासु"
—'ब्रह्मसूत्र' (२।२।३२)।

+ "सन्मूलमपि अहिंसादिश्ववदपि निक्षिप्तक्षीरवदनुपयोगि"
—'तन्त्रवार्तिक'।

पुनर्जीवित करने का प्रयास किया था। किन्तु उनकी सारी चेष्टायें निष्फल रहीं, क्योंकि उन्हें जनताका सहयोग प्राप्त नहीं था, और उन्होंने जनवाणीमें अपनी भावनाओंकी अभिव्यक्ति नहीं की थी। यही धारा मुसलमानोंके आक्रमणके बाद इतने जोरोंसे आगे बढ़ी, मानो अभी-अभी भूकम्पसे पृथ्वी फट गयी हो, और उसका पानी द्विगुणित वेगसे ऊर्ध्वमुख हुआ हो। पर इस आकस्मिक वेग का कारण राजनीतिक था, या सामाजिक—यही प्रस्तुत विषय है।

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदीने इस धारा को अग्रगामी करने का श्रेय मुसलमानोंके आक्रमण को नहीं दिया है। उनके शब्दोंमें 'अगर इसलाम नहीं भी आया होता, तो भी हिन्दी-साहित्य का बारह आना वैसा ही होता, जैसा आज है'*। उन्होंने प्रो० हेवेल की इस धारणाका खंडन किया है कि मुसलमानी सत्ताके प्रतिष्ठित होते ही हिन्दू राजकाजसे अलग कर दिये गये, और दुनिया की झंझटोंसे छुट्टी मिलते ही उनमें धर्म की ओर, जो उनके लिये एकमात्र आश्रय रह गया था, स्वाभाविक आकर्षण उत्पन्न हुआ। ग्रियर्सन, केनेडी आदि विद्वानोंने इसमें ईसाई मत की बू देखकर अपनी अदूरदर्शिता का परिचय दिया है। उनकी मृत आत्माओं को भी भला क्या मालूम होगा कि आज शोधके क्षेत्रमें ईसाई धर्म पर ही महायानियों का प्रभाव सिद्ध किया जा रहा है। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वालने 'Nirgun School of Hindi Poetry' में अकाट्य तर्कोंसे यह प्रमाणित किया है कि निर्गुण-काव्य पर ईसाई मतका प्रभाव बतलाना पूर्णत. निराधार है। पं० सूर्यकान्त शास्त्रीने भी 'हिन्दी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास'के 'वैष्णव-धर्म और ईसाई मत' प्रकरणमे यही सिद्ध किया है।

तत्कालीन लोक-कथानकों, लोकगीतों और लोकोक्तियोंसे अनभिज्ञ रहनेके कारण ही लोग भक्तियुगीन सामाजिक अवस्था का सही अनुमान

---

* 'हिन्दी-साहित्यकी भूमिका' (पृ०२)— प० हजारी प्रसाद द्विवेदी।

नहीं कर पाते; फिर भी भ्रमवश यह कहनेमे नही हिचकते कि भक्ति-साहित्यके सृजनके लिये उपयुक्त सामाजिक पृष्ठभूमि तो मुसलमानोके क्रूर आक्रमणके वाद ही बन पायी* । ऐसे विद्वानो का यह तर्क है कि "देशमें मुसलमानोंका राज्य स्थापित हो जानेके बाद हिन्दू-जनताके हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह नहीं रह गया था, और उनके सामने ही उनके देवमन्दिर गिराये जाते थे, देवमूर्त्तियाँ तोडी जाती थीं, और पूज्य पुरुषोंका अपमान होता था, और वे कुछ नहीं कर सकते थे। ......आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया, तब परस्पर लड़नेवाले स्वतत्र राष्ट्र भी नही रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलटफेरके पीछे हिन्दू-समुदायमें बहुत दिनों तक उदासी-सी छायी रही। अपने पौरुषसे हताश जातिके लिए भगवानकी शक्ति और करुणाकी ओर ध्यान ले जानेके अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ?" ×

पर हमारा कहना यह है कि मुसलमानोके आक्रमणके पूर्व ही देशकी सामाजिक दशा कौन अच्छी थी ? हिन्दू जनताके हृदयसे गौरव, गर्व और उत्साह उठ जानेकी जगह अगर यह कहा गया होता कि कुछ तथाकथित श्रेष्ठ हिन्दू जनता के हृदय से गौरव, गर्व और उत्साह उठ गया था, तो अधिक उपयुक्त होता। माना कि मुस्लिम-आक्रमणके पूर्व हिन्दुओमे गौरव, गर्व और उत्साह था, लेकिन किन हिन्दुओमें ? राजाओं और सामन्तोमे, पुरोहितो और

---

* 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, (पृ० १६०

—डा० रामकुमार वर्मा।

'Nirgun School of Hindi Poetry' (Page no. 7) —Dr. Pitambardutta Barthwal.

× 'हिन्दी साहित्यका इतिहास' (पृ० ६८)—प० रामचन्द्र शुक्ल।

महन्तोंमें, सेठों और साहूकारोंमें; सारी हिन्दू-जनतामें नहीं। मुस्लिम-आक्रमणके पूर्व भारतमें धन था, शिल्प और व्यापार की वृद्धि थी, कहे तो कह सकते हैं, दूध की नदियाँ बहती थीं। कहा जाता है कि 'अकेला रोम अपने यहाँसे हर साल ढाई लाख तोला सोना या साढ़े पाँच लाख सेस्तर्स (पौने दो करोड़ रुपये) कपड़ो (कपड़े) और दूसरी चीज (चीजें) खरीदनेके लिये भारत भेजा करता था" ।* पर इस आमदनीका खर्च किनके जिम्मे था? राजाओं और सामन्तोंके, पुरोहितों और महन्तोंके, सेठों और साहूकारोंके। तत्कालीन कन्नौज, मान्यखेट और पटनाके राजमहलोंमें केवल सुगन्धित द्रव्योंपर जो खर्च चल रहा होगा, उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। "प्रजाकी मिहनतकी कमाईसे उपार्जित ये महार्घ वस्तुएँ चार-पाँच दिन (दिनों)में ही खतम हो जाती थीं। इसके अतिरिक्त भी सामन्तोंके भारी खर्च थे—नये-नये राजमहल, क्रीड़ा-उपवन, सिंहासन, राजपलंग, मोरछल, राजमहलोंकी सजावट, चित्रकला, क्रीडामृग, सोनेके पिंजड़ेमें बन्द शुक-सारिका, लोहेके पिंजड़ेमें बन्द केसरी" । × ऊपरसे 'कृष्ण और दशरथ, तथा उनकी सोलह-सोलह हजार रानियाँ'—उनके सिंगारका खर्च, फिर राजाओंके सालोंकी खिदमत। यह सब किसकी कमाई पर?

देश की दौलत मिट्टी मे मिल गयी। देश का रक्त कुछ सामन्तो और उनकी रानियों ने चूसा, कुछ विदूषको, चापलसो और मसखरोंने; और जो कुछ बचा-बचाया था, वह पुरोहितों और महन्तों ने चूस लिया। बड़े-बड़े मन्दिर, उनपर लाखोंका वारा न्यारा, फिर महन्तों का राजसी ठाट-बाट, उनका भोगविलासमय जीवन; और दूसरी ओर साधारण

---

* 'हिन्दी-काव्य-धारा' (भूमिका)—राहुल सांकृत्यायन।
× वही।

जनता —मरे तो मरे, जिये तो जिये, उन्हें क्या ! किसान, कम्मी और कारीगर तो दूधकी मक्खियां थीं; जिन्हें सहज ही बाहर निकाल फेंका जा सकता था। "स्वयम्भू और पुष्पदन्तके खेत अगोरनेवालियो के मोटे गन्ने और द्राक्षालताओ को देखकर आप यह न समझने की गलती करें कि वह उन्हीं अगोरनेवालियोके उपभोगके लिये थे (थी)।" × इनका रस पीकर तो जोके मोटी हो रही थी।

गरीबोंका न आत्मसम्मान था, न उनकी कोई पूछ; और शूद्र तो और भी गये-बीते थे। औरोंको तो राजाके साथ युद्ध-भूमिमें मरनेका भी अधिकार था; शूद्रोको उसकी भी अनुमति नहीं थी। "सत्तर सैकड़ा (फी सैकड़ा) जनताको अपनी सुन्दर लड़कियोको वैध या अवैध रूपसे रनिवासमें भेजनेके लिये तैयार रहना पड़ता था। कितनी जगह तो नव-विवाहिताकी प्रथम रात सामंतके लिये रिजर्व थी, चाहे वह हाथसे छू कर ही छुट्टी दे दे"। * लोग कीड़ेकी मौत मरते थे, पर कहनेके लिये कहते, यही भगवानकी मरजी है। ऐसी सामन्तोकी मेहरबानी थी। ब्राह्मणोका बोलबाला था, उनकी ही चाँदी थी। बिंबसार (५००ई०पू०) के ब्राह्मण प्रधान मंत्री वर्षकारसे लेकर सदा ही हिन्दू राजाओके प्रधान मंत्री ब्राह्मण होते रहे। उनके महलोकी सजावट और अन्तःपुरकी रौनक राजाओसे कम नही थी। प्रधान मन्त्रीके अतिरिक्त अन्य प्रभावशाली ब्राह्मणोके लिये भी सामन्त लोग हर तरहसे भोग-साधन जुटाते थे। त्यागके झूठे आवरणके भीतर भोगका सिलसिला जारी था। "चन्द्रदेवने १०९३ई० में हाथमें कुश लेकर एक बार ही कटेहली (बनारस) के सारे परगने ब्राह्मणो को दान दे दिये; ११००ई० में फिर उसने वहृदऋहरवरथ

× वही।
* वही।

पत्तला को दान दे दिया। राष्ट्रकूट, पाल तथा दूसरे राजवंश भी ब्राह्मणोके प्रति ऐसी उदारता दिखाते रहे।" ×

ये पोंगापंथी ब्राह्मण शूद्रो को फूटी आँखोसे भी नहीं देखते थे। इनकी व्यवस्था बड़ी क्रूर थी। "कितनी क्रूर थी, इसका अदाजा कुछ-कुछ आपको लग सकता है, यदि परम अद्वैतवादी शंकराचार्यकी जन्मभूमि मालावारके पंचमोंकी बीसवीं शताब्दीकी अवस्थासे आपका थोड़ा परिचय हो। उस युगके नगरोकी बहुत-सी सड़कें उनके लिये वर्जित थी। कितनी सड़को पर थूकनेके लिये उन्हें अपने साथ पुरवा रखना पडता था।"~

ऐसी सैकड़ो जातियाँ या उपजातियाँ थीं, जो समाजके द्वारा बहिष्कृत थी, आश्चर्य तो यह है कि उस समय खेतिहरोको शूद्र करार दिया गया था। "बौद्ध और जैनमतके अनुसार खेती-बारी करना पाप समझा जाता था, क्योंकि इससे अनेक जीवोकी हत्या होती थी। इससे प्रभावित होकर वैश्योने खेती-बारी छोड़ दी, और जो लोग खेती-बारी करते थे, वे शूद्रोके समान समझे जाते थे।" † आर्यसन्तान यह भूल गयी थी कि 'आर्य' शब्दकी व्युत्पत्ति ही वैसे धातुसे है, जिसका अर्थ 'भूमिको जोतना' है। निम्नतम वर्गको अर्थात् शूद्रोंको वे सभी धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक कृत्य वर्जित थे, जिनपर उच्च वर्गका जन्मना अधिकार माना जाता था। उन्हे वेदो और अन्य धार्मिक ग्रन्थोको देखनेकी भी अनुमति नहीं थी। अन्त्यजो (चाण्डालो और मृतपो)की तो और भी उपेक्षा होती थी। उन्हे मन्दिर-प्रवेश तक निषिद्ध था। कहा जाता है कि एक बार

× वही।

~ वही।

† 'मध्ययुगीन भारत' (पृ० १९)—डा० परमात्मा शरण।

भक्त-प्रवर नामदेवको, नीची जातिमें उत्पन्न होनेके कारण, मन्दिरसे निकाल बाहर किया गया। †

फिर यह किस तरह माना जा सकता है कि मुसलमानोके आक्रमणके बाद हिन्दुओंके हृदयसे गौरव, गर्व और उत्साह उठा, और भग्न हृदयमें आशाका संचार करनेके लिये वे भक्ति-भावमें जुट गये। हिन्दुओकी सामाजिक अवस्था तो पहलेसे ही गयी- बीती थी। इसलिये यदि अवस्था कुछ अधिक बिगड़ गयी, तो बिगड़ी अवस्थाको सामूहिक भक्तिके उद्रेक-का कारण नहीं माना जा सकता।

इसी प्रसंगमे हमारा यह भी कहना है कि अंगरेजोके द्वारा या उनकी राजनीतिसे प्रभावित व्यक्तियोंके द्वारा लिखे गये इतिहासोंको पढ-पढ़कर मुसलमानोके अत्याचारकी जो कल्पना हम करने लगे है, उसमें सत्यका अंश उतना नहीं है, जितना हम समझा करते हैं। इसके विपरीत मुसलमान शासकोंकी उदार नीतियाँ भी हमारे समक्ष है, उन नीतियोसे प्रेरित होकर की गयी सेवाये भी है, जिन्हें हम हिन्दू-मुसलमानोंकी ऐक्य-भावनाका क्रियात्मक रूप कह सकते हैं। हालमें ही पुरातत्त्ववेत्ताओं को सरहदके इलाकेमे सुलतान महमूद गजनवीके कुछ सिक्के मिले है, जिनपर एक ओर कलमा का अनुवाद 'अव्यक्तमेक मुहम्मद अवतार नृपति महमूद' संस्कृत भाषा और नागरी लिपिमें है, और दूसरी ओर लिखा है—'अयं टङ्कम महमूदपुरघटिते हिजिरियेन संवति ४१८'। महमूद की 'सेनामे हिन्दू घुडसवारो की एक जबर्दस्त पल्टन थी। महमूदके लडके मसूदने अपने मुसलमान अफसरो को खास तौरसे ताकीद की थी कि वे उसकी हिन्दू प्रजा की धार्मिक भावनाओ

† "हँसत खेलत तेरे दुहुरे आया, भक्ति करत नामा पकरि उठाया।
हीनडी जाति मोरी जाद भराया, छीपेको जनमि काहेको पावा ॥"
—नामदेव

को चोट पहुँचाने की कोई छोटी-सी भी बात न करें'। × एक ओर हमारे सामने महमूद का यह चित्र है, जिसे देखते हुए हम यह कल्पना भी नहीं कर सकते कि उसके हृदयके किसी कोनेमें हिन्दुओंके लिए विष भरा होगा, और दूसरी ओर उस चित्रसे भी लोग अपरिचित नहीं, जिसमें उसे मूर्त्तिध्वसक और हिन्दू-विरोधी दिखलाया गया है। संभव है, सोमनाथ का मन्दिर उसने तोड़ा हो, पर इसके मूलमें उसकी धर्मांधता नहीं, बल्कि अर्थ-लोलुपता काम कर रही होगी, ऐसा विश्वास करनेके कारण हैं। अनेक इतिहासोंमें उसे परले सिरे का लालची बताया गया है; और सोमनाथ का मन्दिर अपने प्रतापसे अधिक ऐश्वर्यके लिए प्रसिद्ध था। पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझाने तो राजपूतानेके इतिहासमें यहाँ तक लिखा है कि बुतशिकन मुसलमान इतिहासकारोंने सोमनाथ की मूर्त्तिके तोड़ने का जो वर्णन किया है, वह झूठा, मनगढ़ंत तथा उनकी झूठी आत्मश्लाघा का द्योतक है।

महमूद के अतिरिक्त अन्य मुस्लिम राजाओंमें भी हिन्दुओंके प्रति सहिष्णुता की भावना थी। अधिकांश मुसलमान बादशाहोंने अपने सिक्कोंपर हिन्दू-धर्मके निशान ठप्पा किये--जैसे स्वस्तिक, त्रिशूल, कमल, सूर्य आदि। प्रारंभमें सिक्कोंपर संस्कृत और बादमें उनपर कोई-न-कोई आर्य-भाषा छापी जाती रही। मुहम्मद तुगलक की अशर्फियोंपर लक्ष्मीके चित्रका ठप्पा पड़ा। अकबर और जहाँगीरके सिक्कोंपर राम और सीता की तथा राशि-चक्रकी भी छाप लगी।

मुसलमानोंके राज्य-कालमें शासकों और शासितोंमें सांस्कृतिक आदान-प्रदानके अनेक उदाहरण मिलते हैं। काश्मीरका शासक जैनुल आबिदीन (१४२०-१४७० ई०) संस्कृत और फारसीका अच्छा विद्वान्

× Cambridge History of India—vol. III Page no. 88-89.

था। इधरके शोध-कार्योंसे पता चला है कि शेरशाहके भी बहुत पहले, खलीफोके ही समयमें ज्योतिष, गणित और वैद्यक-विषयक प्रसिद्ध संस्कृत-ग्रंथोका अरवीमें अनुवाद हो चुका था। अलबरुनी (९७३-१०४० ई०) ने संस्कृतका इतना अध्ययन किया था, कि अनुवादोके अतिरिक्त वह इसमे उत्तम रचनायें भी प्रस्तुत कर सकता था। फिरोजशाह तुगलक और गयासुद्दीन मुहम्मदशाहन संस्कृतके दार्शनिक ग्रंथोका अरबी में अनुवाद कराया था। इधर अपभ्रंश में लिखी हुई मसलमानों की कुछ कवितायें मिली हैं। बारहवी शताब्दी के उत्तरार्ध या तेरहवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे 'सदेश-रासक' नामक काव्य 'मेघदूत' के ढर्रेपर अपभ्रंश-भाषा मे लिखा गया है, जिसके रचयिता अब्दुल रहमान नामक कोई कवि है। इस पुस्तक की इतनी अधिक प्रसिद्धि हुई कि दो जैन भिक्षुओ ने इसपर संस्कृतमे भाष्य लिखे। इसका संपादन हाल में ही मुनि श्री जिनविजय ने किया है। ऐसे अनेक उदाहरण इतिहास मे हैं। अमीर खुसरो, जायसी, रहीम आदि की सेवाओ से तो प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी परिचित ही है।

तत्कालीन धार्मिक सहिष्णुताके अनेक उदाहरणो मे से एक यह भी है कि मुहम्मद-बिन-कासिम ने सिध-विजयके बाद भी बौद्ध-मन्दिरोको सुरक्षित रहने दिया। मुलतान मे उस समय अनेक ऐसे मन्दिर वर्तमान थे, जहाँ जाकर अरब के यात्री श्रद्धाके दो फूल चढ़ाया करते थे। मुगलों के शासन-काल मे सहिष्णुताकी इस भावनाका और भी प्रसार हुआ। बाबर ने हुमायूँके लिये जो वसीयतनामा लिखा था, उससे हिन्दुओके प्रति उसकी सहिष्णु नीति पूर्णत स्पष्ट होती है। + हुमायूँ के विषय मे भी कहा जाता है कि चित्तौड़ की राजमाता की राखी स्वीकार करके,

---

+ वसीयतनामेके अनुवादके लिये देखिये 'खडित भारत' (पृ० ६५)
—डा० राजेन्द्र प्रसाद।

तथा आपत्कालमें स्वयं क्षति उठाकर भी उनकी सहायता करके उसने अपने भ्रातृप्रेम का अपूर्व परिचय दिया था। मुगल बादशाह हिन्दुओंके पर्व होली और दिवालीको बड़ी धूमधामसे मनाते थे। 'तुज्के जहाँगीरी'में लिखा है—"शनिवारके दिन दशहरा पड़ा। उस दिन शाही घोड़े खूब सजाये गये, और शानसे उनका जुलूस निकाला गया"। आइसर ऐण्ड श्वेगर कम्पनीके पास एक चित्र है, जिसमें बेगम नूरजहाँ दिवाली मनाती हुई चित्रित की गयी है। चित्र पुराना है, सम्भवतः औरंगजेबके समयका; पर इस प्रसंगमें वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'तुज्के जहाँगीरी'में मुगल बादशाहने अपने पिताकी चलायी हुई एक ऐसी प्रथाका उल्लेख किया है, जो हिन्दू-मुस्लिम-भ्रातृप्रेमका ज्वलन्त उदाहरण है। जहाँगीरकी वर्षगाँठके दिन साम्राज्य-में पशु-हत्या बिल्कुल नहीं होती थी। बृहस्पतिवार और रविवारको कुर्बानी बन्द रहती थी। शेरशाह तो हिन्दू प्रजाकी तीर्थयात्राओं और पर्व-त्योहारोंमें भी भाग लेता था। उसने स्वयं टूटे मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराया, और जजिया कर उठा दिया। अकबरका तो कहना ही क्या! हिन्दू उसकी सहिष्णु नीतिके कायल हैं। हाँ, औरंगजेबके विषयमें बड़ी ऊल-जलूल बातें कही जाती हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह सर्वथा हिन्दू-विरोधी था। हालमें कुछ ऐसे फरमानों और जागीर-सम्बन्धी दानपत्रोंकी खोज की गयी है. जो औरंगजेबने ब्राह्मणों या मंदिरों को दिये थे। महेश्वरनाथके मन्दिरके पुजारियों को उसने जागीरें दी थीं; मुलतानके तुतलामाई मन्दिरके लिए कल्याणदास को एक हजार रुपये देना स्वीकार किया था। उसने बनारस जिलेके कुछ पुजारियों को जागीरें दी थीं। डा० राजेन्द्र प्रसादने 'खंडित भारत' में एक ऐसी घटना का उल्लेख किया है, जिसे देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि वह हिन्दुओं को बलात्

मुसल्मान बनाया करता होगा। शाहजहाँने बार-बार आज्ञोल्लघन करनेके अपराधमें ववेराके राजा इन्द्रमणिको कैद कर लिया था, जिसे छुड़वानेके लिए औरंगजेबने बड़ी सिफारिश की। शाहजहाँ उसे इस्लास कबूल करनेकी शर्तपर छोड़नेको तैयार था, लेकिन औरगजेबने पिताको इस आशय का पत्र लिखा कि यह शर्त 'अव्यवहार्य, अबुद्धि-मत्तापूर्ण और दूरदर्शिता-शून्य' [१] है। यही नहीं, कई हिन्दुओके बड़े-बड़े ओहदोके लिए उसने अपने पितासे सिफारिश भी की थी। 'रुकात आलमगीरी' तथा 'अदबे आलमगीरी' में इस प्रकारकी पैरवी के अनेक उदाहरण मिलेंगे।

इन सब बातो को देखते हुए यह किस तरह कहा जा सकता है कि तुर्क, अफगान, पठान और मुगल-काल हिन्दुओके लिए महान् संकट का समय था, और इसीके प्रतिक्रिया-स्वरूप मध्ययुगीन भारतीय जीवनमें भक्ति की धारा बही।

बात यह थी कि मुसलमानोके आक्रमणके पूर्वसे ही निरन्तर सामाजिक शोषणसे पीडित एक विशाल जन-समुदाय तयार हो रहा था, जिसकी ओर से विद्रोहकी प्रतिक्षण संभावना थी। इसी विद्रोह मूलक भावनाका आकस्मिक स्फोट निर्गुण-धारा के रूप में दिखाई देता है। शोषितो में आगके शोले होते है, जो एक बार भडक उठने पर फिर बुझाये नही जा सकते। मुसलमानोने इन शोलोको पैदा नहीं किया, बल्कि पहलेसे पडे शोलो पर से राख हटा दी। जन-मन के अन्दर क्रान्ति के स्फुलिंग तो सिद्ध-सामन्त-युग (७६०-१३०० ई०) में ही उद्भूत हो चुके थे; पुरो-हितो के धर्मदंड और सामन्तों की तलवारो का भय कब तक उनकी ज्वाला रोकता। अवसर मिलते ही निर्गुणियोने इस शोषणका खुलकर विरोध किया। यही कारण है कि निर्गुण-भक्ति-मार्गमे ब्रह्मकी उपा-

---

[१] वही।

सनाके साथ-साथ जर्जर वर्णाश्रम-धर्मकी विकृत व्यवस्था पर निर्मम आघात भी मिलता है। पर वे संत साधक धन्य है, जिन्होंने अपने विरोधियोंसे भी प्रेम और अहिंसाकी लड़ाई लड़ी, क्योंकि वे जानते थे कि

'तीर तुपक सो जो लडे सो तो सूरा नाहि'

और

'सबसे ऊँची प्रेम सगाई'।

राजनीति के विद्यार्थी इसे गाँधीवादी कार्य-प्रणाली पर किया गया धार्मिक समाजवादका क्रान्तिकारी आन्दोलन कह सकते है। इस आन्दोलन से पूर्व के सहजयानियो और नाथपंथियो की साधनामूलक उपासनाने पर्याप्त योग दिया, और उधर पंजाव और सिंधसे सूफियोकी अलमस्त टोली इन क्रान्तिकारियोमे आ मिली। इसी बीच दक्षिणसे अलवारोका भक्तिमतवाद भी श्री-सम्प्रदाय, ब्राह्म सम्प्रदाय, रुद्र-सम्प्रदाय और सनकादि-सम्प्रदायका शास्त्रीय आधार लेकर उत्तर भारतमे आया, जिससे इस आन्दोलनको और भी शक्ति मिली। अब इसकी दो भिन्न धाराये हो गयीं— निर्गुण-भक्ति-साधना और सगुण-भक्ति-साधना। ये दोनो साधनायें पूर्ववर्ती धर्ममतोके आधार पर पुष्पित-पल्लवित हुईं। सगुण-भक्तिने पौराणिक अवतारोको आधार माना, और निर्गुण-भक्तिने नाथ-पंथी योगियोके निर्गुण परब्रह्मको। इस प्रकार भक्ति-साहित्यका सृजन हुआ, जिसकी एक धारा शास्त्रोके निकट होकर वही, और दूसरी निरक्षर जनताके। दूसरी धारा, स्पष्ट ही, निर्गुण-धारा थी। निर्गुण-साहित्यमे जनताका स्वर था, जनताकी आशा-आकांक्षायें थीं, और थी जनताके लिये मर मिटनेकी अदम्य प्रेरणा। लोकपक्षकी ओर साहित्यका यह झुकाव ईसाकी एक सहस्राब्दी बादसे ही अत्यन्त स्पष्ट होने लगा था। हीनयानसे महायान, सहजयान और वज्रयान तक क्रमशः बौद्ध-दर्शनमें जो परिवर्तन हुए, उनके मूलमें लोकपक्षकी भावना

ही प्रबल बनी रही। पर ठीक इसके विपरीत जिन दिनो बौद्ध-धर्म लोक-पक्षकी ओर उत्तरोत्तर अग्रसर हो रहा था, उन्ही दिनो ब्राह्मण-धर्म लोक-पक्षको छोडता जा रहा था। अत. आगे चलकर ग्यारहवी-बारहवी शताब्दीमे हेमाद्रिसे लेकर कमलाकार और रघुनन्दन तक बहुतेरे पंडितोने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक निबन्धो * की रचना करके ब्राह्मण-धर्मको पुनः लोकमतके निकट लानेकी चेष्टा की। अब बौद्ध-पण्डित भी लोकमतकी ओर झुक गये, और स्मार्त पण्डित भी। इस प्रकार साहित्यमें लोकपक्ष प्रबल रूपमें अभिव्यक्त हो चला। अपभ्रंश-साहित्यके अध्ययनसे यह बात पूर्ण स्पष्ट हो जाती है, और अपभ्रंश जन्मसे ही जनताकी भाषा रही, जो मुसलमानोके आक्रमण तक संस्कृतको सर्वथा अपदस्थ करके राजभाषाके पदपर आसीन हो चुकी थी। जब अपभ्रंशसे हिन्दी निकली तो उसे अपनी माताकी भाव-सम्पत्ति उत्तराधिकारमे मिली, और यह कोई अनहोनी घटना नही थी; फिर भी कुछ मान्य विद्वान् इसका उद्गम विदेशी भाव-धारामे ढूँढ़ते हैं, और अनजाने ही सत्यसे दूर चले जाते हैं। प० हजारी प्रसाद द्विवेदीने यह मत प्रकट किया है कि सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य ही नही,

---

* इस्लामके आगमनके पूर्व भारतमे अनेक मत-मतान्तरोका ऐसा चक्रव्यूह था, जिसमें एकबार घुस जाने पर फिर निकलनेकी कोई राह नही मिल सकती थी। कुछ ब्रह्मवादी थे, कुछ कर्मकाडी थे, कुछ शैव, कुछ वैष्णव, कुछ शाक्त, और न जाने क्या-क्या। ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी में स्मार्त पडितोने अनेकानेक ग्रंथ लिखकर किसी ऐसे सर्वसम्मत सिद्धान्त का निर्णय करने की चेष्टा की, जिसमें श्राद्ध-विवाह की एक ही रीति-नीति हो, उत्सव-समारोहका एक ही विधान रहे। इन्ही ग्रन्थोको 'निबन्ध' कहते हैं।

वल्कि ऐतिहासिकतापरक हिन्दू-कवियो के रोमांस और डिंगल-कवियोकी वीरगाथायें भी अपभ्रंश-कविताका स्वाभाविक विकास है। ×

निर्गुण-साहित्यमें जाति-पाँति, अवतारवाद और मूर्तिपूजाका वडी निर्ममतासे खण्डन किया गया है। ऊपरसे देखने पर यह भावना भारतके लिये अपरिचित-सी लगती है। अतः कुछ विद्वानोने इसे भी इस्लामका प्रभाव माना है। किन्तु विचारपूर्वक देखनेपर इस सिद्धान्तकी निर्मूलता स्पष्ट हो जाती है। वैदिक या औपनिषदिक कालमें भारतमें अवतार-वाद या मूर्तिपूजाका कोई चिह्न नही मिलता। यह पौराणिक कालकी देन है। इसे मानते हुए भी हरिऔधजीने कवीरके अवतार-विरोध और मूर्तिपूजा-निषेधका मूल मुसलमानी एकेश्वरवादमे वतलाया है। अपने समर्थनमें वे यह तर्क उपस्थित करते है कि "अपठित होनेके कारण उनको (कवीरको) वेदो और उपनिषदोकी शिक्षाका ज्ञान न था; इसलिये इतनी दूर पहुँचना उनका काम नहीं था। उनके कालमें पौराणिक शिक्षाका ही अखण्ड राज्य था, जो अवतारवाद और मूर्तिपूजा-की जड है। इसलिये यह अवश्य स्वीकार करना पडता है कि ये दोनों बातें उनके हृदयमें मुसलमान-धर्मके प्रभावसे उत्पन्न हुई"। * पर यह तर्क कवीरके दार्शनिक आधारकी समीक्षाके समय अपनी निर्मूलता स्वयं सिद्ध कर देता है। कवीरके प्रायः सभी मुख्य दार्शनिक सिद्धान्त भारतीय परम्परासे लिये गये है; यहाँ तक कि उनका ब्रह्म भी उसी प्रकार द्वैताद्वैत-विलक्षण है, जिस प्रकार गोरखपंथियोके 'नाथ' सगुण-निर्गुणसे अतीत है (गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, पृ० ७१)। कवीरके पूर्ववर्ती साधकोने

× 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' (द्वितीय संस्करण, पृ० २८)
—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

* 'कवीर वचनावली' (पृ० ५४) —पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'।

भी उन्हींकी तरह नाना मतोका खण्डन किया है। सिद्ध-सम्प्रदाय और नाथपंथमें अवतारवाद और मूर्त्तिपूजाकी उपेक्षा कोई नई बात नही, जिसके कारण निर्गुण-भक्ति-मार्गको सामी मतके प्रभावसे उद्भूत माना जाय। उनके अपठित होने का तर्क देना तो और भी निर्मूल है। जब अनपढ कबीरकी वाणियोमें दर्शन की उलझी हुई गुत्थियाँ मिलती हैं, तब साधारण धर्म-सुधारके इन सुलझे हुए विचारोके मिल जाने पर यह आपत्ति क्यो? वह भी तब, जब उन गुत्थियोके साथ-साथ इन विचारोका भी मूल कबीरके निकट-पूर्ववर्ती साधकोकी रचनाओमें विद्यमान है। इस प्रकार कुछ तो अपनी परम्परागत विचारधाराके कारण और कुछ सहज बुद्धिसे भी निर्गुणियोने वही अनुभव किया, जो भारतीय ऋषि कर चुके थे।

"न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये।
देवो हि विद्यते भावे तस्माद्भावो हि कारणम् ॥"

वे भावके भूखे थे, दिखावेके नहीं। उन्होंने अवतार-ग्रहण का खंडन इसलिए किया है कि अवतार-ग्रहण, शरीर-धारण और जन्म-मरण या भवबंधन तो कारण-कार्य का ऐसा चक्र है, जिसमें पड जाने पर ईश्वरकी मर्यादा रह नहीं जाती। जो माया 'उस दरबार' की दासी है, उसीके बन्धनमे पड़ते रहनेवाला ईश्वर किस प्रकार सर्वशक्तिमान् हो सकता है? यह साधारण-सी बात है। फिर भी, यदि इसकी खोज का श्रेय आप 'अपठित' कबीरको नही देना चाहते, तो वेदों और उपनिषदोंकी ओर देखिये, जहाँ निर्गुण-मतके अनेक सिद्धांत बीजरूपमें मिलते हैं। ऋग्वेदमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

"न हि न्वस्य प्रतिमानमस्त्यन्तर्जातिषूत ये जनित्वा"

—ऋ० ४।१८।४।

अथवा

नास्य गत्र नंप्रतिमानमस्ति

—ऋ० ६।१८।१२।

फिर अवतारवाद और मूर्त्तिपूजाका आधार रह ही कहाँ जाता है ! इसके अतिरिक्त साङ्ख्य आदि आस्तिक और जैन, बौद्ध आदि नास्तिक दर्शन तो सर्वथा निरीश्वरवादी हैं, फिर अवतार किसका और मूर्त्तिपूजा किसकी ! इस प्रसगमे यह स्मरण कर लेना आवश्यक है कि निर्गुण-मतके दार्शनिक सिद्धान्तो पर साङ्ख्य का, तथा बौद्ध-सिद्धों का भी स्पष्ट प्रभाव है। वास्तविकता यह है कि अवतार-ग्रहण और मूर्त्तिपूजाके सिद्धान्त ब्रह्मके सगुण स्वरूपके आधार पर ही प्रतिष्ठित किये जा सकते हैं; और निर्गुण की उपासना मध्ययुगकी ऐतिहासिक आवश्यकता बन चुकी थी *। वह समय भी ऐसा था कि लोग दीर्घकालीन सामाजिक विषमतासे ऊब चुके थे। बहुसंख्यक जनता शूद्र था, जिसे वेदाध्ययन की अनुमति नहीं थी। यहाँ तक कि उसे मन्दिर-प्रवेश भी वर्जित था। तत्कालीन विचारकों ने अवश्य ही इस स्थिति को अनुभव किया। फलस्वरूप हम रामानन्दके द्वारा जाति-पाँतिके बन्धनको ढीला होते देखते हैं †। इस प्रकार तत्कालीन सामाजिक विषमताने मनुष्य-मनुष्यकी समानताकी भावनाको जन्म दिया, जिसका प्रतिपादन निर्गुण-सन्तोने अनेक स्थलो पर किया है। यह भावना स्वभावतः ब्राह्मणोसे अधिक शूद्रोमें काम कर रही थी, क्योंकि वे सामाजिक वैषम्यके शिकार रह चुके थे। ऐसी परिस्थितिमें उन्होने निर्गुण ब्रह्मको अपनाया, जो प्राकृतिक तत्त्वोकी तरह अनन्त, असीम, फिर भी सर्व-

---

* दे०—यही पुस्तक।

† "जाति पाँति पूछे नहिं कोई। हरिको भजै सो हरिका होई॥"

—रामानन्द।

सुलभ है; जिसे सोनेके मन्दिरोमें बन्द नही रखा जा सकता; जिसकी ठेकेदारीके लिये किसी ब्राह्मणकी आवश्यकता नही पड़ती; और न जो सदा उच्च कुलमे अवतार ही लिया करता है। यही कारण है कि प्रायः सभी निर्गुण-संतोको हम शूद्र या अन्य उपेक्षित जातियोमें उत्पन्न पाते हैं, और सभी सगुण-सन्तोको ब्राह्मण-कुलमें।

जहाँ तक जाति-पाँतिके विरोधका प्रश्न है, निर्गुणियोसे अधिक उग्र विरोधी मिलना कठिन है +। जिस कट्टरतासे उन्होने जाति-भेदकी अनुपयुक्तता प्रतिपादित की है, वह उनके समान भुक्तभोगियोके ही उपयुक्त है। वर्ण-व्यवस्था स्वयं बुरी वस्तु नहीं, पर जन्मके द्वारा वर्ण-निर्धारण और वर्णके आधार पर सामाजिक वैषम्य अवश्य बुरे हैं। प्राचीन वर्ण-व्यवस्था कालान्तरमे इन्हीं दोषोसे आक्रान्त हो चुकी थी। अत निर्गुणियोने स्वभावतः उसे निर्मूल कर देना चाहा। इसके मूलमें वही समानताकी भावना थी, जिसके विषयमे हम ऊपर कह चुके हैं। इसमे सन्देह नही कि यह भावना सर्वथा परिस्थिति-जन्य थी। अतः उनका जाति-पाँति-विरोध विदेशी प्रभावका परिचायक नही, अपितु अति प्राचीन वर्ण-व्यवस्थाके विकृत रूपकी प्रतिक्रिया है। सभी प्राचीन शास्त्र सामाजिक जीवनमें जन्मको नगण्य स्थान देते हैं। ऋग्वेदके 'पुरुष-सूक्त'में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार वर्णोका, तथा 'उषःसूक्त'में शास्त्रजीवी, शस्त्रजीवी, व्यवसायजीवी और शरीरश्रमजीवी, इन चार वर्गोका उल्लेख मिलता है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वर्ण-व्यवस्थाका वास्तविक मूल वृत्ति-विभाजन अथवा श्रम-विभाग है, और चारों वर्णोमें कोई विषमता या भेद

+ "एकै बाम्हन एकै सूद्र। एकै हाड चाम तन गूद॥
एकै बिन्द एक भग द्वारा। एकै सब घट बोलनहारा॥"
—गरीबदास।

नही है। † प्राचीनकालमें यह एक व्यावहारिक सत्य था। फलतः चारों वर्णोंमें एकता रहती थी। ऋग्वेदका 'संगच्छध्वं' मंत्र इसका प्रमाण है। ‡ वैदिक मंत्रोंके प्रणेता ऋषियोंमें से अनेक वणिक्-पुत्र और पशु-पालन करनेवाले भी थे। महिदास जैसे शूद्रका नाम ब्राह्मण-ग्रंथोके निर्माणके प्रसंग से उल्लेखनीय है। वेदमंत्रोके रचयिता विश्वामित्रके क्षत्रियसे ब्राह्मण होने का उदाहरण भी वर्ण-व्यवस्थाको वृत्ति-मूलक ही सिद्ध करता है। महाभारतमें एक स्थल पर स्वभावानुसार शुभ कर्म करनेवाले शूद्रको द्विजोंसे श्रेष्ठ

---

† "न विशेषोऽस्ति वर्णाना सर्वं ब्राह्ममिद जगत्।
ब्रह्मणापूर्वसृष्ट हि कर्मभिर्वर्णता गतम्॥"
—'महाभारत', शान्तिपर्व, अध्याय १८६।

‡ "सगच्छध्व सवदध्व सवो मनासि जानताम्।
देवा भाग यथा पूर्वे सजानाना उपासते॥ २॥
समानो मन्त्र समिति समानी समान मन सहचित्तमेषाम्।
समान मन्त्रमभिमन्त्रये व समानेन वो हविषा जुहोमि॥३॥
समानी व आकूति समाना हृदयानि व.।
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति॥ ४॥"
—(८ अ०, १० म० १९० सूक्त)।

—साथ-साथ चलो, साथ-साथ बोलो, साथ-साथ अपने मन को मिलाओ, क्योंकि देवता एक ही होकर अपना भाग ग्रहण करते हैं। हमारा मत्र समान है, और हमारे चित्त भी समान हैं। हम समान रूप से मत्र पढते हैं, समान रूप से आहुति देते हैं। हमारे सकल्प और हृदय समान हैं, जिससे सबका ऐक्य होता है।

बताया गया है † । बहुत कुछ इसी आशयका एक श्लोक श्रीमद्भागवत में भी है, जहाँ प्रह्लाद ने अभक्त ब्राह्मणकी अपेक्षा भक्त चाडाल को वरेण्य माना है * । पुराणोमें भी चारो वर्णो को एक ही पिता की सन्तान मान कर जाति-भेद का प्रत्याख्यान किया गया है × । इसी-लिये गीता में भगवान् कृष्ण कहते है —

"विद्याविनयसपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिन ॥" (५।१८) ।

बौद्ध-शास्त्रोमे भी जहाँ कही वर्ण-व्यवस्थाका उल्लेख है, जन्म को उसका कारण नहीं माना गया है । गौतम बुद्धने कहा है —

---

† "स्वभाव कर्म च शुभ यत्र शूद्रोऽपि तिष्ठति ।
विशिष्ट स द्विजातेर्वै विज्ञेय इति मे मति ॥
न योनिर्नापि सस्कारो न श्रुत न च सन्तति ।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम् ॥
सर्वोऽय ब्राह्मणो लोके वृत्तेन च विधीयते ।
वृत्ते स्थितस्तु शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्व नियच्छति ॥"
—महाभारत, अनुशासन पर्व, १४३।४९।५१ ।

* " विप्राद्द्विषगुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपच वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचने हितार्थ-
प्राण पुनाति स कुल न तु भूरिमान ॥"
—'श्रीमद्भागवत', ७।९।१० ।

× " चत्वार एकस्य पितु सुताश्च
तेपा सुताना खलु जातिरेका ।
एव प्रजाना हि पितैक एव
पित्रैकभावान्ननु जातिभेद ॥" '—भविष्य पुराण' ।

"माता-पिताके रज-वीर्यसे जन्म प्राप्त करनेवाला जीव न क्षत्रिय होता है, न ब्राह्मण। वह न वैश्य होता है, न शूद्र।"

"उच्च कुलवाला भी प्राणिहिंसक, चोर, दुराचारी, मिथ्यावादी, चुगलखोर, कटुभाषी, बकवादी, लोभी और द्वेषी होता है। इसलिए मैं कुलीनताको श्रेय नहीं देता। पर मैं कुलीनताको बुरा भी नहीं समझता, क्योंकि कुलीन भी अहिंसक, साधु, सदाचारी और द्वेषविहीन होता है। इसी प्रकार नीचकुलोत्पन्न व्यक्ति हिंसक और अहिंसक, सच्चा और झूठा, लोभी और लोभरहित, द्वेषी और अद्वेषी दोनों होता है †।"

इसी तरह 'मज्झिम निकाय' के 'वासेट्ठ सुत्तंत' में सच्चे ब्राह्मणों-का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया है, उससे वृत्यनुसार वर्ण-विभाजनका पूरा समर्थन हो जाता है। 'धम्मपद' में भी ब्राह्मणके लक्षण उसके गुण ही बताये गये हैं, जाति या कुल नहीं।

"न जटा से, न गोत्रसे, न जन्म से ब्राह्मण होता है। जिसमें सत्य और धर्म है, वही पवित्र व्यक्ति है, ब्राह्मण है।" *

"मैं ब्राह्मणी माता से उत्पन्न होनेके कारण किसीको ब्राह्मण नहीं कहता। यदि वह संपन्न है, तो उसे 'भो' कहकर संबोधित किया जाता है। जिसके पास कुछ नहीं, और जो कुछ नहीं लेता, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।" +

('धम्मपद', ब्राह्मणवग्गो)

---

† मज्झिम निकाय, 'अस्सलाय सुत्तंत' और 'फासुकारि सुत्तंत'।

* "न जटाहि न गोत्तेहि न जच्चा होति ब्राह्मणो।
यम्हि सच्चञ्च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो॥"

\+ "न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसम्भवं।

गुणकर्मानुसार वर्ण-विभाग-तो एक इसी बात से शास्त्र-समर्थित सिद्ध हो जाता है, कि प्रायः सभी प्राचीन शास्त्रोंमे अन्तर्जातीय विवाह के उदाहरणों का प्राचुर्य है। छान्दोग्य उपनिषद्मे रैक्य ऋषिके एक क्षत्रिय-कुमारीसे विवाह करनेका उल्लेख है। महाभारतमे भी मत्स्य-गंधा नामक दास-पुत्रीके पाडवोके किसी पूर्वजसे ब्याहे जाने की कथा मिलती है। वशिष्ठने अक्षमाला, और मन्दपालने शारंगी नामक शूद्र कन्याओसे विवाह किये थे। सीताके स्वयवरमे रावण, भस्मासुर, मिडाक्ष आदि असुरों का सम्मिलित होना भी अन्तर्जातीय विवाहके प्रचलनका ही उदाहरण है। प्राचीन कालमें प्रचलित अनुलोम-प्रतिलोम विवाहोसे भी यही सिद्ध होता है। शास्त्रोमे तो विवाहके संबंध में स्पष्ट कहा है—

विशिष्टाया विशिष्टेन सम्बन्धो गुणवान् भवेत्'
—('महाभारत' नलोपाख्यान)।

वहाँ तो समाजके सभी अंग समान है—न कोई बडा, न कोई छोटा।

पर निर्गुणियोके समय मे परिस्थिति बदल गयी थी। जाति-पाँति का भेद अपनी चरम सीमा पर था। उन्हे जाति-भेदके अन्दर मानवता गुमराह होती हुई दीख पड़ी। उन्होने जाति-पाँति पर आघात इसलिये

भो वादी नाम सो होति स चे होति सकिञ्चनो ॥
अकिञ्चन अनादान तमह ब्रूमि ब्राह्मण ॥''—(२६।११, २६।१४)।
तुलनीय—'ब्राह्मण सो जो ब्रह्म पिछानै। बाहर जाता भीतर आनै।
पाँचो बस करि झूठ न भाखै। दया-जनेऊ अन्तर राखै ॥
आतम विद्या पढै पढावै। परमातम मे ध्यान लगावै।
काम क्रोध मद लोभ न होई। चरनदास कहै ब्राह्मण सोई ॥''
—चरनदास।

किया है कि वे मनुष्य-मात्र को समान मानते थे, कुछ इसलिये नहीं कि उनपर इस्लामका प्रभाव था। यही कारण है कि उन्होने हिन्दू-मुसलमान दोनोको फटकारा है, और दोनो को मानव-धर्म की शिक्षा दी है।

"जो तुम बाम्हन बाम्हनि जाये। और राह तुम काहे न आये॥
जो तू तुरुक तुरुकनी जाया। पेटै काहे न सुनँति कराया॥"--कबीर।
एकै हाड त्वचा मल मूत्रा, रुधिर गुदा एक मुद्रा।
"एक बिन्दु ते सृष्टि रच्यो है, को ब्राह्मण को सूद्रा॥"--कबीर।
"कोई हिन्दू कोई तुरुक कहावैं एक जमी पर रहिये"--कबीर।

मानव-धर्मकी यह शिक्षा किसी-न-किसी रूपमे प्राचीन कालमे ही देशमे चली आ रही थी †। जाति-पाँति और वर्ण-भेदकी संकीर्ण मनोवृत्तिका विरोध भी निर्गुणियोके आविर्भावके पहले ही आरंभ हो चुका था। कहते है कि बौद्ध-धर्मके पतन-कालमें जीव-भक्षकोको शूद्रोसे भी निकृष्ट माना जाता था। इससे तत्कालीन समाजमें वर्ण-भेदके अस्तित्वकी बात सिद्ध होती है। कुमारिल भट्ट और शंकराचार्यने बौद्ध-धर्मके इस कोटिवादके विरुद्ध जबर्दस्त प्रतिक्रिया की, और सभी वर्णोमें समानताका उपदेश दिया। फिर भी इस सिद्धान्तको व्यावहारिक रूप प्राप्त करनेके लिये कुछ समय लेना पड़ा। तब तक दक्षिण भारतमे अलवारोने भक्तिके क्षेत्रसे जाति-पाँतिका व्यवधान दूर कर दिया था। अछूत कुलमे उत्पन्न अण्डालका अलवारोमे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। तिरुमगय्या नामक एक अलवार डाकूने, जो अछूत था, लूटसे मिले धनके

---

† "धृति क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रह।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशक धर्मलक्षणम्॥"—'मनुस्मृति'।
"चरम भिक्खते चाहिक बहुजनहिताय बहुजनहिताय
लोकामुक्माय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सान।"
'विनयपिटक'।

द्वारा अनेक मन्दिरोका निर्माण कराया। तिरुप्पन नामक एक प्रमुख अलवार भक्त भी अछूत ही था। ईश्वरके यहाँ किसी प्रकारका वर्णगत भेद-भाव नहीं। वहाँ केवल भक्तिमय हृदयकी आवश्यकता होती है। अलवारोने इस सत्यको अपने जीवनमें उतार लिया था।

पर उत्तर भारतकी परिस्थिति कुछ दूसरे प्रकारकी थी। अलवारोका भक्तिमतवाद जब दक्षिणसे उत्तरमें आया, तो एक नवीन जागृति-सी फैली। इस नवीन जागृतिके दर्शन हमें पहले-पहल रामानन्दमें होते है। रामानन्दने भक्तिके क्षेत्रमें यह आदर्श रखा—

"जाति पाँति पूछै नहि कोई। हरिको भजै सो हरिका होई॥"

पर समाजमें वे भी मर्यादाको मानना ही उचित समझते थे। इसके प्रमाण-स्वरूप यह कहा जाता है कि उनके शिष्यों मे आनन्तानन्द आदि कट्टर मर्यादावादी लोग भी थे। रामानन्द की शिष्य-परंपरामें एक ओर तुलसी और दूसरी ओर कबीर के होने से भी उनका उभयमुखी व्यक्तित्व प्रकट होता है। उनके पूर्ववर्ती दार्शनिक आचार्य रामानुज के विषय में यह कहा जाता है कि विष्णुचित्त और शठकोप नामक दो अवर्णों से उन्होने प्रेम-भक्तिकी दीक्षा ली थी। पर यह सब वर्ण-भेदका मृदुल विरोध था, जो कबीर आदि में पूर्ण परिपक्व होकर अभिव्यक्त हुआ। इसके कई कारण हो सकते है। रामानन्द आदि धर्म-प्रचारको ने भक्ति को जीवन से पृथक् स्थान दिया था, और भक्तिको अपना साध्य बनाया था; अत. स्वभावतः उनकी दृष्टि समाजसे जाति-पाँतिके उन्मूलनकी ओर नहीं गयी। इसके अतिरिक्त वर्ण-भेदका प्रतिरोध करने मे वे बहुत कुछ सैद्धान्तिक या बौद्धिक सहानुभूति से ही प्रेरित हुए होगे। यही कारण है कि कबीर आदि ने जिस उग्रता और तीव्रताके साथ जाति-पाँति की निन्दा की, उसका इन आचार्यों मे सर्वथा अभाव मिलता है। भुक्तभोगी की प्रतिक्रिया जितनी उग्र हुआ करती है, उतनी हमदर्दकी

सान्त्वना नहीं हो सकती। फिर, निर्गुण-साधना जीवनसे विमुख होना नहीं सिखाती। इसलिये भी निर्गुणियोके लिये जीवनकी विषमताओका सामना करना अनिवार्य हो गया। यह परिस्थिति अत्यन्त सामान्य रूपमें नाथपंथियोके सामने भी आ चुकी थी, और वे इससे निबटनेके लिये एक तरहसे मार्ग प्रस्तुत कर चुके थे। निर्गुण-सन्तोने भी अपनी अक्खड़ वाणीमें इस संकीर्णताका विरोध किया; और इसमें सदेह नहींकि वाणीकी यह अक्खडता उन्हे सिद्धो और नाथपंथियोसे उत्तराधिकारमें मिली थी। बल्कि यह कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कि सिद्धो और नाथ-पंथियोकी वाणी अपनी समस्त शक्ति और तेजके साथ निर्गुणियोकी जिह्वा पर अवतरित हुई है। सिद्धो और नाथपंथियोके साहित्यसे निर्गुण-मतवादियोके साहित्यकी तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। तीक्ष्ण अभिव्यंजना शैली, व्यंग्य करनेकी क्षमता दोनोमें समान है। इसके अतिरिक्त वे ही राग-रागिनियाँ, वही दोहे-चौपाइयों और पदोंका प्रयोग, वही 'कविताके लिये कविता' का अभाव, वही सहज अलंकार— यहाँ तक कि सब-कुछ वही है। फिर भी, जहाँ तक मूल भाव- धाराका संबंध है, निर्गुण-कवि नाथपंथियोंसे अधिक प्रभावित दीख पड़ते हैं, सिद्धोसे कम। सिद्ध, नाथ और निर्गुण, तीनो साहित्योंमें रहस्यात्मक शैलीकी प्रधानता है और गुरु-महत्ताकी प्रतिष्ठा, पुस्तकीय ज्ञानका थोथापन, बाह्याडम्बरका विरोध, यौगिक प्रक्रियाओंका उल्लेख, मूर्त्तिपूजाका खंडन आदि अनेक बातें समान हैं। पर कामिनीकंचनत्याग और मद्य-मांस-निषेधके समर्थनमें सिद्धोंका एक भी पद नही मिलता। इस विषयमें निर्गुण-कवियोंका नाथपंथियोसे सीधा संबंध है। इसके विपरीत बौद्ध सिद्ध तो ऋजु-मार्गके समर्थक है, और निर्वाणके लिये भोगको अङ्गीकार करते है†। नाथ-पंथ सिद्धोकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया है, जिसमें मद्य-

† "उजु रे उजु छडि मा लेहु वक,
निअड़ि वोहि मा जाहु रे लक" —सरहपा।

मांस- मैथुनका सर्वथा बहिष्कार किया गया है ᐩ। फिर भी, दोनो मतोंमें आमूल विरोध नही दीख पड़ता। गोरखनाथ आदिने सिद्धोंके मलको अलग करके सार-मात्र मदिराको उतारा है †।

निर्गुणियो और नाथपथियो मे नाम-मात्र का ही भेद है। कबीरको हम गोरखनाथ का संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण कह सकते है। गोरखनाथ शिव के उपासक हैं, × पर उनका 'महेश' वैसा ही निराकार है, ** जैसा कबीर का 'राम'। गोरखनाथके 'शिव' को न हम पार्वती का पति कह सकते है, न गणेशका पिता। उसी प्रकार कबीरका 'राम' न दशरथ-पुत्र हैं, न सीता-पति। नाथपंथी 'शिव' की तरह निर्गुण 'राम' भी सत्त्व, रजस् और तमस् तीनो से परे + है। साधक निर्गुण से तभी

"खण आणद भेउ जो जाणइ।
सोऽइह जम्महि जोइ भणिज्जइ॥"—तिलोपा।

ᐩ "अवधू मास भषत दया धरम का नास।
मद पीवत तहँ प्राण निरास॥
भांगि भषत ग्यान ध्यान षोवत।
जम दरबारी ते प्राणी रोवत॥"—'गोरखबानी'।
"कनक कामिनी त्यागै दोइ,
जो जागे स्वर निरभै होइ॥" —वही।

† "कुसमल होत तें भडि पडिया।
रहि गया तहाँ तत सार" —'गोरखबानी'।

× "ॐ नमो सिवाइ बाबू ॐ नमो सिवाइ" —वही।

** "बसती न सुन्य सुन्य न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन-सिषर महिं बालक बोलै, ताका नाँव धरहुगे कैसा॥"
—वही।

+ "अमरा निरमल पाप न पुन्नि।
सत रज तम बिवरजित सुन्नि॥" —वही।

तादात्म्य कर सकता है, जब वह स्वय निर्गुण हो जाय। गोरखनाथने इसके लिये हठयोगकी साधनाको वाछनीय बताया है। हठयोगकी साधना से वे एक ऐसे साध्यकी प्राप्ति करते है, जो 'अलख' है। उसे न सर्व-साधारण का राम कह सकते है, न खुदा †। अगर वह राम या खुदा है भी तो परब्रह्म का प्रतीक। इसमें सदेह नही कि कबीरके 'राम' में भी यही भावना काम कर रही है। कबीरकी रचनाओंमें भी हठयोग-संबंधी अनेक पद मिलते है, पर ऐसा जान पडता है कि वे पद उनकी साधनाकी प्रारंभिक अवस्थामें निर्मित हुए है, क्योकि अन्य कई स्थानों पर विहगम योगकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए कबीरने पिपीलक योग को अनुपादेय ठहराया है। इसप्रकार वे योग-साधना की एक परंपरागत प्रणालीका सूत्र पकड़कर भी अपने पॉवो पर चलते हुए दीख पड़ते है। इसीलिए यह कहना अत्यन्त युक्तिसंगत होगा कि कबीर भारतीय साधना के उस महाप्रवाह के एक शक्तिसम्पन्न जल-चक्र है, जिसकी अथ-श्री बौद्ध सिद्धो और नाथपंथियो से, तथा इति-श्री परवर्ती निर्गुण-सन्तो में होती है।

डा० रामकुमार वर्माने ठीक ही कहा है—"संत-साहित्यका आदि इन्हीं सिद्धोको, मध्य नाथपंथियोको और पूर्ण परिपाक कबीरसे प्रारंभ होनेवाली संत-परंपरासे नानक, दादू, मलूक, सुन्दरदास आदिको मानना चाहिये"।* इस विषयमे हरिऔध जीका भी यही मत है। उनके शब्दोमे "यदि सूक्ष्म दृष्टि और विवेचनात्मक वुद्धिसे निरीक्षण किया जाय, तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि जिन सिद्धान्तोके कारण कबीरके सिर पर संत-मत

---

† "हिन्दू आँखै रामको मुसलमान खुदाई।
योगी आँखै अलखको जहाँ राम न खुदाई॥" —वही।

* 'हिन्दी-साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास' (पृ० ४६)
—डा० रामकुमार वर्मा।

के प्रवर्त्तक होनेका सेहरा बाँधा जाता है, वे सिद्धान्त परम्परागत और प्राचीन है" †। पर आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि इस भारतीय सेहरेके अनेक उपादानोको विद्वानोने पश्चिमसे उधार लिया गया बताया है। ऐसे विद्वानोको इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है कि उन्होंने इतिहास और संस्कृति की पृष्ठभूमिसे निर्गुण-धाराका अध्ययन नही किया है, अथवा संतो की समीक्षामें वे अपनी तर्क-शक्तिका पर्याप्त उपयोग नहीं कर सके है। उदाहरणार्थ, स्वयं हरिऔधजीने कबीरके अन्य सभी सिद्धान्तोको वैष्णव विचारपरम्परासे प्रसूत बताया है, पर उनके मूर्त्तिपूजा-निषेधको वे इस्लामसे सबद्ध करते है। हम उन्हीके शब्दोमें वस्तुस्थिति का अध्ययन उचित रूपसे कर सकते है—

"जब वह (वैष्णव धर्म) यही कहता है कि किसी कर्म वा ज्ञानके द्वारा नही, केवल भक्तिके द्वारा जन्मपरिग्रह रुकता है, और जब भक्ति की महिमा यो गायी जाती है—

"हरिभक्ति विना कर्म्म न स्याद्धीशुद्धिकारणम्।
न वा सिद्ध्येद् विवेकादि न ज्ञान नापि मुक्तता॥"

तो मायावाद, बहुदेववाद, कर्मकाड, व्रत-उपवास, तीर्थ-यात्रा आदि आप ही उपेक्षित हो गये।" * पर यह ज्ञात नहीं हो पाता कि इन सबोके 'आप ही उपेक्षित' हो जाने पर भी मूर्त्तिपूजा क्योकर बद्धमूल रह गयी। यह सामान्य बुद्धि (Commonsense) की बात है कि जब उल्लिखित श्लोकके द्वारा भक्तिकी महिमा गाते रहनेके बाद भी वैष्णव-भक्त कर्मकाण्ड, व्रत-उपवास और तीर्थयात्राकी पंकिलतासे अपनेको मुक्त नहीं

---

† 'हिन्दी-भाषा और साहित्यका विकास' (पृ० १८१)
—प० अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध'।

* 'कबीर-वचनावली' (पृ० ५२)—'हरिऔध'।

कर पाये थे, और यवनकुलोत्पन्न कबीरने वैष्णव-प्रभाव मात्रसे इनका खंडन प्रारम्भ कर दिया, तो निश्चय ही उनकी बुद्धि अत्यन्त उच्चकोटिकी रही होगी, जिससे वे शास्त्रोंके मन्तव्योंको उनके प्रकृत रूपमें समझ सके। फिर युगोंसे चिल्ला-चिल्लाकर ब्रह्मका निर्गुणत्व प्रतिपादित करनेवाले उपनिषदों, शताब्दियोंसे लोक-जीवनको (और स्वयं कबीरको भी) प्रभावित करती आनेवाली सिद्ध-नाथ-सम्प्रदायकी निर्गुणोपासना-पद्धति, और सबसे अधिक स्वयं अपनी सहज बुद्धिसे कुछ भी ग्रहण न करके 'अपठित' कबीरने अपने मूर्त्तिपूजा-विरोधी भावोंको इस्लामसे लिया होगा, यह कहना कितनी बड़ी विडम्बना है! अस्तु, हरिऔधजीने यह माना है कि "गुरु गोरखनाथका ज्ञानवाद और योग-वाद ही कबीर साहबके निर्गुणवादका स्वरूप ग्रहण करता है"। *

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदीका भी यही मत है। इन दोनों मतोंमें विभिन्नता वहीं होती है, जहाँ हरिऔधजी कबीरके निर्गुणवादपर सूफियोंके एकेश्वरवादकी छाया बताते हैं, जैसा पं० रामचन्द्र शुक्लने माना है। पर "सही बात यह है कि जब कबीरदास राम और रहीमकी एकताकी बात करते हैं, तो उनका मतलब भारतीय परम्पराके 'अद्वैत ब्रह्म'को सामी-धर्मके 'पैगम्बरी खुदा'के साथ घुला देना नहीं होता। वे अत्यन्त सीधी-सी बात अत्यन्त सीधे तौर पर कहते हैं कि सृष्टिके रचयिता भगवानको यदि मानते हो, तो दो की कल्पना व्यर्थ है। एक ही परमतत्त्वको राम या रहीम कह देनेसे दो नहीं हो जायगा।"† "वस्तुत कबीरका एकेश्वरवाद उस प्रकारका था ही नहीं, जैसा मुसलमानी धर्ममें स्वीकृत बताया जाता है। इस मतके अनुसार ईश्वर समस्त जगत् और जीवोंसे भिन्न और परम समर्थ है। कबीरदासने स्पष्ट

---

* 'हिन्दी-भाषा और साहित्यका विकास' (पृ० १७३)—'हरिऔध'।

† 'कबीर'—पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

शब्दोंसे लोगोंको सावधान किया है कि वह ब्रह्म व्यापक है, सबमें एक भावसे व्याप्त है; पंडित हो या योगी, राजा हो या प्रजा, वैद्य हो या रोगी, सबमें आप रम रहा है, और उसमें सब रम रहे हैं। यह जो नाना भाँतिका प्रपंच दिखाई दे रहा है, अनेक घट और अनेक भाण्ड दिख रहे हैं, सब कुछ उसीका रूप है। सारा खलक ही खालिक है, और खालिक ही खलक।" † पर रामके साथ दशरथकी स्मृति स्वभावत: हो आती है, और अल्लाहके साथ बाँग देते हुए मुल्लाओंका ध्यान आ जाता है। इसलिये कबीरने अपने भगवान्को नामातीत और निर्गुण-सगुण, रूप-अरूपके परे बतलाया है। कई स्थलोंपर उन्होंने मुसलमानोंके खुदासे अपने स्वामीकी भिन्नता प्रतिपादित की है।

"मुसलमानका एक खुदाई। कबीर स्वामी रह्या समाई॥"

अत: उन पर सामी मतके एकेश्वरवादका प्रभाव नहीं माना जा सकता।

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वालने निर्गुण-साधनाकी यौगिक प्रक्रियाओंका सीधा संबंध नाथपंथियोंसे दिखाया है, और इस प्रकार यही सिद्धान्त स्थिर किया है कि नाथपंथियोंकी पृष्ठभूमि पर ही निर्गुणियोंका विकास हुआ। इस विषयमें शुक्लजी भी सहमत हैं। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि "कबीरके लिये नाथपंथी योगी बहुत-कुछ रास्ता निकाल चुके थे"×। कबीरके नामसे प्रचलित ग्रंथोंमें गोरखनाथसे उनकी भिड़न्त कराकर उन्हें विजयी ठहराया गया है। इससे यह भ्रम हो सकता है कि कबीर गोरखनाथके विरोधी थे। पर अपने अनेक विचारोंके लिये वे नाथपंथियोंके ऋणी और कृतज्ञ समझे जायेंगे। डा० बड़थ्वालके मतानुसार

† वही, पृ० १२१।

* 'योग-प्रवाह'— डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।

× 'हिन्दी-साहित्यका इतिहास', (पृ० ७३)—पं० रामचन्द्र शुक्ल।

कबीर एक प्रकारसे गोरखनाथके अनुयायी है †। 'सुरति', 'निरति', 'उन्मन' आदि पारिभाषिक शब्दोका प्रयोग दोनोने समान अर्थोमें किया है। ब्रह्मकी उपलब्धिके लिये अजपा जापका विधान दोनों समान रूपसे करते है। गोरखके सबंधमे कबीरके विचार भी अच्छे थे, और उन्होने स्पष्ट शब्दोमे गोरखकी प्रशंसा की है *। इससे जान पड़ता है कि कबीर पर अपने पूर्ववर्ती इस प्रबल व्यक्तित्वका समुचित प्रभाव अवश्य पड़ा था। इस प्रभावका कारण इसके अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि गोरखनाथने जनताको वज्रयानी सिद्धोकी अश्लीलतासे मुक्ति दिलाकर साधनाका वास्तविक मार्ग प्रदर्शित किया था, जिसे आगे चलकर कबीर आदिने विकसित किया। तत्कालीन जैन-साधकोका साहित्य इस बात का साक्षी है कि नाथपंथियो ने सिद्धोके ऋजु-मार्गके विरुद्ध जो प्रतिक्रिया की (जो निर्गुण-साहित्य में विकसित हुई), वह उनकी सर्वथा मौलिक उद्भावना नही थी। वज्रयान तक आते-आते बौद्ध-धर्म जिन बुराइयो का केन्द्र बन गया था,

---

† "गोरख भरथरी गोपीचदा।
तेहि मन सो मिलि करहि अनदा॥
अकल निरजन सकल सरीरा।
तेहि मन सो मिलि रहा कबीरा॥" —कबीर।

* "राम गुन बेलडी रे, अवधू गोरषनाथि जाणी।
नाति सरूप न छाया जाकै, विरध करै बिन पाणी॥
बेलडिया है अणी पहूँती, गगन पहूँती सैली।
सहज बेलि जब फूलण लागी, डाली कूपल मेल्ही॥
मन-कुजर जाइ वाडी विलग्या, सतगुर वाही बेली।
पच सखी मिलि पवन पचप्या, वाडी पाणी मेल्ही॥
काटत बेलि कूप ले मेल्ही, सीचताडी कुमिलाणी।
कहै कबीर ते विरला जोगी, सहज निरन्तर जाणी॥"
—कबीर।

उनसे जैनियों ने अपने को बचाये रखा। तत्कालीन तारण-पंथ आदि जैन-साधनाओंमें सुधारकी अनेक बातें मिलती हैं [1]। जिस समय चौरासी सिद्ध पंचमकारोंमें लिप्त थे,' और 'प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि' जैसी पुस्तकोंसे सरस्वतीको* अपवित्र और जन-जीवनको कलुषित किया जा रहा था, उसी समय जैन कवि पुष्पदंतने धर्मकी व्याख्या करते हुए प्राणि-मात्र पर दया, अलीक वचन के परिहार और सत्य-मार्ग पर स्थित रहने की शिक्षा दी।

"पुच्छियउ धम्मुजइवज्जरइ, सो सयलह् जीवह् दय करइ।
जो अलिय पय पणु परिहरइ, जो सच्च सउच्चे रह करइ॥"

(यदि महाराज ने भक्त से पूछा, 'धर्म क्या है?', तो उत्तर में वह बोले—'धर्म वही है, जिससे सब जीवो पर दया की जाय, और अलीक वचन का परिहार करके जहाँ सुन्दर सत्य-भाषण में आनन्द मनाया जाय।')

"वज्जई अदत्तु णियपियखणु, जो ण धिवइ परकलते णायणु।
जो परहणु तिणु समाणु गणइ, जो गुणवतउ भत्तिए धुणइ॥"

---

[1] दे० 'जैन- धर्मकी देन'— क्षितिमोहनसेन।
('विशाल भारत', अक्तूबर, १९४१)

* "प्रज्ञापारमिता सेव्या सर्वथा मुक्तिकाक्षिभि।
परमार्थे स्थिता शुद्धा सवृत्या तनुधारिणी॥२२॥
ललनारूपमास्थायसर्व्वत्रैव व्यवस्थिता।
अतोऽर्थं वज्रनाथेन प्रोक्ता बाह्यार्थसम्भवा॥२३॥
ब्राह्मणादि कुलोत्पन्ना मुद्रा वै अन्त्यजोद्भवा।
दुःशीला पर (भार्या !) च विकृता विकला तथा॥२४॥
जनयित्रीं स्वसारं च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम्।
कामयन् तत्त्वयोगेन लघु सिध्येद्धि साधक॥२५॥"
'प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि'।

(जहाँ बिना दी हुई वस्तु ग्रहण न की जाती हो, और जहाँ पर-स्त्री पर आँख उठाकर न देखा जाता हो; बल्कि पुरुष अपनी प्रिया से ही संतुष्ट हो, वहाँ धर्म है ।)

जब गोरखनाथ ने अपने पंथ की स्थापना की होगी, तब पुष्पदंत द्वारा प्रतिपादित धर्म का यह स्वरूप अवश्य उनके सामने रहा होगा। सिद्धों के वाम-मार्ग से उपयोगी वस्तुओं को ग्रहण करते समय जैन-साधकों के इन मान्य सिद्धान्तो का उन पर बिलकुल प्रभाव नहीं पड़ा होगा, यह कुछ युक्तिसंगत नही लगता। इस प्रकार कबीर आदि निर्गुणमतवादी संतो के कुछ विचारो की जड़ कितनी गहरी है, इसका अनुमान किया जा सकता है। पुष्पदंत के अतिरिक्त अन्य जैन-कवियों से भी निर्गुणियों का अनेक बातों में सादृश्य लक्षित होता है। सन् १००० ई० के लग-भग की लिखी हुई मुनि रामसिंह-कृत 'पाहुड़-दोहा' नामक एक पुस्तक उपलब्ध है, जिसके दोहो में कबीरके सिद्धान्तो का उन्हींकी व्यंजना-शैली मे प्रतिपादन मिलता है। वही भाव, वही व्यंग्य, वही फाके-मस्ती !

"तित्थइँ तित्थु भमन्तहँ, मूढहँ मोक्खु ण होइ ।
णाण-विवज्जिउ जेण जिय, मुणिवरु होइ ण सोइ ॥
चेला-चेल्ली-पुत्थियहिँ, तूसइ मूढु णिभंतु ।
एयहिँ लज्जइ पाणियउ, बंधहँ हेउ मुणन्तु ॥

× × ×

देउलु देउवि सत्थ्गुरु, तित्थुवि वेउ वि कव्वु ।
वच्छु जु दीसै कुसुमियउ, इंधणु होसइ सव्वु ॥"×

सिद्धों, नाथपंथियो और जैन-साधकोके अतिरिक्त निरंजनपंथी साधकों की भी अनेक प्रवृत्तियाँ निर्गुणियो-द्वारा समादृत हुई हैं। निरंजन-

× 'हिन्दी-काव्य-धारा' (पृ० २४८)—राहुल सांकृत्यायन ।

सम्प्रदायके अनुयायी बंगाल और उड़ीसाकी चारो और फैले हुए थे। निरंजनी संतोमें हरिदास, तुरसीदास, मोहनदास, मनोहरदास, निपटनिरंजन और भगवानदास उल्लेखनीय है। इन्होंने अन्य निर्गुणियोंकी ही तरह अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियोको सरल और स्वाभाविक सौन्दर्यपूर्ण गीतोमें अभिव्यक्त किया है। इन साधकोकी भी 'उलटी चाल' है, और इनके काव्यमें भी योगकी वैसी ही मान्यता पायी जाती है।निरजनी संतोने नाम-स्मरणको बड़ी महत्ता दी है। इनके सम्प्रदायमे प्रेम और योग, दोनो तत्त्व समान रूपसे समाहित है। डा० बड़थ्वालके मतानुसार 'निरंजनी पंथमें प्रेम तथा योग-तत्त्व संभवतः रामानन्द या उन्हीके सदृश किसी संतसे आये है' ×। निर्गुण-पंथकी तरह यहाँ भी अजपा जापको साधनाका अग माना गया है, और गुरुकी महत्ता स्वीकार की गयी है। रहस्यमयी भाषामें अपरोक्ष अनुभूतिका वर्णन भी निरंजनी पंथमें प्रचुर परिमाणमे मिलता है। किन्तु मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, और कर्मकांडको साधनाकी प्रारम्भिक अवस्थामें प्रश्रय देनेके कारण निरंजनपंथी संत निर्गुण-संतोसे कुछ पृथक् दीख पड़ते है। इस सम्बन्धमे ये शंकराचार्यके अधिक निकट हैं। शंकराचार्यने पारमार्थिक दृष्टिसे मूर्त्तिपूजा, और अवतारवाद की अवहेलना करते हुए भी व्यावहारिक रूपमे उनका प्रतिरोध करनेकी चेष्टा नहीं की है। शंकरके अद्वैतसे प्रभावित होकर ही निरंजनी कवि तुरसी-दासने नवधा भक्तिको एक नवीन रूप दिया है, जो जीवको प्रवृत्तिसे हटाकर निवृति की ओर उन्मुख करता है। इस प्रकार थोड़ी विषमता होने पर भी निरंजन-पंथ और निर्गुण-पंथमे समानतायें इतनी हैं, कि दोनोके स्वरूपोको सहज ही पृथक् नही किया जा सकता। यही कारण है

× 'कुछ निरजनी सतो की बानियाँ' ('योग-प्रवाह' पृ०,४८)
डा० पीताम्बरदत बडथ्वाल।

कि कालान्तरमे निरंजन-पंथ निर्गुण-धारामें घुल-मिल गया। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदीने लिखा है कि "राढ़भूमि, पूर्वी विहार, झारखंड और उड़ीसामे एक ऐसे परमदेवकी पूजा प्रचलित थी (और कहीं-कहीं अब भी है), जिसका नाम धर्म(धर्मराय) और निरंजन था, और जिस पर बौद्ध-मतका जबर्दस्त प्रभाव था। यह भी हो सकता है कि वह बौद्ध-मतका आरम्भमें प्रच्छन्न रूप रहा हो। विशेष रूपसे कबीर-मतकी दक्षिणी शाखा (धर्मदासी सम्प्रदाय) को इस प्रबल प्रतिद्वन्द्वी मतको आत्मसात् करनेका श्रेय प्राप्त है। इस सम्प्रदायके माननेवालो पर अपना प्रभावके विस्तार करनेके लिये कबीर-मतमें उनकी समूची जटिल सृष्टि-प्रक्रिया और पौराणिक कथायें ले ली गयी थीं"। ×

कबीरपंथी साहित्यमें निरंजनकी प्राप्तिके लिये शून्यका ध्यान आवश्यक बताया गया है। शून्य ब्रह्मका पर्यायवाची है। कबीरने स्वयं 'निरंजन' शब्दको ब्रह्मके अर्थमें प्रयुक्त किया है—

'गोब्यन्द तू निरजन, तू निरजन, तू निरजन राया।'

इस प्रकार निर्गुण-धाराकी पृष्ठभूमि मे अनेक छोटी-बड़ी ऐसी धारायें हैं, जो काल-क्रमसे इसीमें विलीन होती गयीं। इनमें सिद्धों, नाथपंथियों, जैन-साधको, अलवारों और निरंजनपंथियोका उल्लेखनीय महत्त्व है। कबीरने अपने पूर्ववर्ती साधकोके मतोका परिष्कार करके, तथा उनके अनुभवोसे लाभ उठाकर भारतीय उपासना-पद्धतिको एक ऐसा सबल व्यक्तित्व दिया, जिसमें शताब्दियोके चिन्तन और साधनाका परिणाम संचित था। रामानन्दका शिष्यत्व ग्रहण करके, और जनतामें प्रचलित भगवान्से अपने ब्रह्मका यादृच्छिक तादात्म्य स्थापित करके कबीरने जन-साधारणके विश्वास पर विजय प्राप्त की। ध्यान देनेकी बात है कि जायसी

× 'कबीरपथ और उनके सिद्धान्त'—प०हजारी प्रसाद द्विवेदी —विश्वभारती पत्रिका, खड ५, अक २, पृ० ४५२।

आदि सूफी कवि, जिन पर बहुत-कुछ इस्लामी प्रभाव है, ऐसा नहीं कर पाये हैं। इस प्रकार निर्गुण-धाराका मूल स्रोत ही नहीं, बल्कि उसकी प्रवृति भी स्वदेशकी ओर अभिमुख दीख पड़ती है। कवीन्द्र रवीन्द्रने भी कबीरके प्रभावका श्रेय उनके सामान्य भारतीय जीवनसे लिये गये प्रतीको को ही दिया है †।

निर्गुण-उपासना के आधारभूत तत्त्वोका विवेचन कर लेने पर भी एक प्रमुख तत्त्व जो बच रहा है, वह है निर्गुणियो का रहस्यवाद। विद्वानों के एक वर्ग का तर्क है कि अव्यक्त की उपासना हो ही नहीं सकती; उपासनाके लिये तो अव्यक्तको व्यक्त होना पड़ता है। उनके शब्दो में "भारतीय भक्ति-मार्ग साकार और सगुण को लेकर चला है; निर्गुण और निराकार ब्रह्म भक्ति और प्रेम का विषय नहीं माना जाता"। और सगुण-उपासनामें रहस्य कहाँ? "योग रहस्य-मार्ग है, तन्त्र रहस्य-मार्ग है; पर ये सब साधनात्मक है। प्रकृत भाव-भूमि या काव्य-भूमि पर चले हुए मार्ग नही" ×। हमें यह बताया जाता है कि "अव्यक्त, अभौतिक और अज्ञात का अभिलाष, यह बिलकुल विदेशी

---

† "A constant employment in them of the imagery drown from the common life makes these songs universal in thir appeal. It is by the simplest metaphors, by appeals to needs, passions, relations, which all men understand, that drives home his intense conviction in the mystical experience of life." —One hundred poems of 'Kabir'. Introduction—by Rabindranath Tagore.

† 'हिन्दी साहित्यका इतिहास' (पृ०७३)– प० रामचन्द्रशुक्ल।

× वही पृ ७३।

कल्पना है, और मजहबी रुकावटों के कारण पैगम्बरी मत माननेवाले देशों में की गयी है। अव्यक्त, अगोचर ज्ञानकाण्ड का विषय है। हमारे यहाँ न वह उपासनाक्षेत्र में घसीटा गया है, न काव्यक्षेत्र में। ऐसी बेढब जरूरत ही नहीं पड़ी" *। इसलिए "मुसलमानी अमलदारीमें रहस्यवाद को लेकर जो 'निर्गुण-भक्ति' की बानी चली, वह बाहर से—अरब और फारस की ओर से—आयी थी। रहस्यवाद एक साम्प्रदायिक वस्तु है; काव्य का कोई सामान्य सिद्धान्त नहीं" †।

इन विचारों की परीक्षा के लिए हमें मध्ययुग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर रहकर रहस्यवाद की उस निरंतर प्रवहमान धारा का अध्ययन करना होगा, जो वेदों और उपनिषदों से प्रारंभ होकर मध्य-युग तक भक्ति के क्षेत्र को परिप्लावित करती रही। इसमें सन्देह नहीं कि जहाँ कहीं भी निर्गुण-निराकार का निरूपण होगा, रहस्यवादिता स्वभावतः आ जायगी, चाहे वह ज्ञान या दर्शन के क्षेत्र में हो, अथवा भक्ति या काव्य के। पर देखना यह है कि 'निर्गुण-भक्ति' का विषय कब बना; और मध्ययुग में निर्गुण-भक्ति को आविर्भूत करनेवाली परिस्थितियाँ कौन-कौन-सी थीं। प्राचीन हिंदू-शास्त्रोंके क्रमशः अध्ययनसे यह ज्ञान होता है कि गीताके समय तक आते-आते ज्ञानकी अपेक्षा भक्ति की प्रमुखता मान ली गयी थी। गीता में परम-तत्त्वके ज्ञानको भक्तिके ही द्वारा संभव बताया गया है ×। 'भक्तियोग' नामक बारहवें अध्यायमें अर्जुनके प्रश्नका समाधान करते हुए श्रीकृष्णने सगुण-भक्त को निर्गुण-भक्त की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा है। इस प्रसंगसे वे कहते हैं—

---

* 'काव्यमें रहस्यवाद' –'चिन्तामणि' (पृ० ८९) प० रामचन्द्रशुक्ल।

† वही, पृ०—१३६–१३७।

× "भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥" —गीता, (११।५४)।

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःख देहवद्भिरवाप्यते ॥" (१२।५)

यहाँ 'अव्यक्तासक्त' शब्द ध्यान देने योग्य है । 'आसक्ति'से केवल जिज्ञासा या ज्ञानकी नहीं, बल्कि भक्तिकी भावना सन्निहित है । अतः यह निष्कर्ष निकालना असंगत नही कि गीताके समयमें भी निर्गुण-भक्तिका प्रचलन था । यह दूसरी बात है कि यह भक्ति-पद्धति उस समयसे लेकर कबीर आदि सन्तोके पहले तक विशेष समादृत नही हो सकी थी । इस प्रकार भारतीय भक्ति-मार्गमें निर्गुण और निराकारका भी स्थान प्राचीन कालसे ही स्वीकृत सिद्ध होता है । 'अव्यक्त, अलौकिक, अज्ञातका अभिलाष' वास्तवमे विदेशी कल्पना नहीं है । यह विशुद्ध भारतीय उपासना-पद्धति है, जो कालक्रमसे अमर्यादित हो गयी थी × । निर्गुण-संतोने इसे समाजमे प्रसारित किया, तब इसके महत्त्वका एक प्रकारसे पुनर्मूल्यांकन हुआ । पर यह सब हुआ मुसलमानी कालमें, इस-लिये स्वभावतः यह भ्रम हो जाता है कि निर्गुण-भक्ति-भावना 'अरब और फारसकी ओरसे' आयी । इसमे संदेह नहीं कि मध्ययुगमें निर्गुण-भक्तिका विकास बहुत-कुछ तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियोके ही कारण हुआ । जनतामें सवर्ण-अवर्ण, ऊँच-नीच और छुआछूतकी भावनाओके कारण एक ऐसी सामाजिक Crisis की अवस्था हो गयी थी, जिसका शमन असंभव था । वेदाध्ययन, यज्ञोपवीत-धारण, मन्दिर-प्रवेश आदिका निषेध शोषित जनताके आत्मसम्मान को कसकर धक्का दे रहा था । ऐसी स्थितिमे, जब भगवान भी कुलीनोके यहाँ ही अवतार ग्रहण कर रहे थे, निम्न श्रेणीकी जनताके लिये इसके अतिरिक्त अन्य मार्ग नही

× "हम लखि, हमहिँ हमार लखि, हम हमारके बीच ।
तुलसी अलखहिँका लखै, राम नाम जपु नीच ॥"
—तुलसीदास ।

था कि वह निर्गुण-भक्तिको उस धाराको फिरसे जागृत करे, जो एक बार म्रियमाण हो चुकी थी। जिस समय प्रथम-प्रथम 'निर्गुण' ज्ञानके क्षेत्रसे भक्तिके क्षेत्रमें आया होगा, उस समय इसके मूलमें भक्तिको ठोस दार्शनिक आधार देनेके अतिरिक्त अन्य कोई भावना नहीं रही होगी; पर एक समय आया, जब इतिहासने निर्गुण-भक्ति को पर्याप्त सामाजिक आधार भी प्रदान कर दिया, जिससे इसकी नींव और भी दृढ़ हो गयी। फलतः अव्यक्त-अगोचर पूर्ण रूपसे उपासना-क्षेत्रमें आ गया। और जब वह उपासनाका विषय हो गया, तो स्वभावतः काव्यका भी विषय हो ही गया।

अब देखना यह है कि निर्गुणियोका रहस्यवाद क्या है। निर्गुण-काव्य की रहस्यवादिता काव्यके क्षेत्रमें कोई नवीन वस्तु है, या प्राचीनकालसे आती हुई उसकी कोई परंपरा प्राप्त हो सकती है। वास्तवमें भारतीय काव्यमें रहस्यवाद की परंपरा वेदोसे आरंभ होती है। इस प्रसंगमें यह जान लेना आवश्यक है कि वेद काव्य है, और संसारके किसी भी काव्य-ग्रंथसे पहले कविताका एक विकसित स्वरूप उनमें प्राप्त होता है। प्रकृतिके भव्य और मनोरम सौन्दर्यके अतिरिक्त मनुष्यकी कल्पनाओं और मनोवेगकी अभिव्यक्ति सृष्टि-रचनाका काव्यात्मक वर्णन तथा जीवन-मृत्युके रहस्योका गंभीर विवेचन भी वेदोमें पाया जाता है। अनेक प्रकार की रहस्यात्मक कवितायें, बहुतेरी पहेलियाँ, तथा प्रश्नोत्तर और संवाद-शैलीपर निर्मित मनोरंजक कथायें भी उनमें भरी पड़ी हैं। वेदोंमें प्रायः सभी रसोकी अपूर्व सृष्टि हुई है, और अलंकारोके भी उल्लेखनीय प्रयोग हुए हैं। काव्यके इस आरंभिक रूपमें भी रहस्यवादकी योजना बहुशः मिलती है। 'नासदीय सूक्त में' 'नास्ति' (Non-Existence)का सुन्दर और चमत्कारपूर्ण वर्णन है। सन्त अरविन्दके अनुसार अन्य धर्मग्रंथोकी तरह वेदोंमें भी प्रतीक-पद्धतिका प्रयोग किया गया है। सूर्य

विज्ञानका प्रतीक माना गया है, अग्नि इच्छाका, और सोम अनुभूतिका × सिद्धान्ततः एक ईश्वरका अस्तित्व मानकर भी * वेदोमें विभिन्न देवताओं की स्तुतियाँ की गयी है, जिन्हे एक ही ईश्वरके भिन्न-भिन्न आलंकारिक स्वरूप कह सकते हैं। यह भी रहस्यात्मक पद्धति ही मानी जायगी। ब्रह्मके स्वरूपका वेदोंमे इस प्रकार विवेचन किया गया है कि उसमें रहस्यवादिता स्वतः आ गयी है। †

उपनिषदोमें आये हुए आत्माके पूर्ण आनन्दस्वरूपके निर्देश; ब्रह्मानन्द-की अपरिमेयता को लौकिक, दाम्पत्य सुखके दृष्टान्तोंसे समझनेकी

× 'Indian Philosophy'—S. Radhakrishnan.

* "इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्म सुपर्णो गरुत्मान्।
एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥"
ऋ० १-१६४।४६, अथर्व० ९-१०-२८

"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा।
तदेव शुक्र तद्ब्रह्म ता आप स प्रजापति॥" यजु० ३२-१।

"न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ॥१६॥
न पञ्चमो न षष्ठ सप्तमो नाप्युचते ॥१७॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥१८॥
तमिद निगत सह स एष एक एकवृदेक एव ॥२०॥"
अथर्व० १३।४।६।२०।

† "अनेजदेक मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत ॥
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥"
यजु ४०।४।

चेष्टा; तथा योगके सहस्रदल कमल आदि की भावनामें भी रहस्यवादको आश्रय दिया गया है । उपनिषदोंमें तो ब्रह्मके विवेचनके प्रसंगमें सर्वत्र रहस्यवादका समावेश हुआ है, चाहे वह विवेचन 'ईश', 'केन', 'कठ' आदि की विरोधाभास-वाली शैलीमें हो, या बृहदारण्यकके 'नेति-नेतिवाद'के सहारे*। गीतामें भी भगवान्‌के मुँहसे उनकी विभतिके वर्णन (१०।२०-३८), या अर्जुनके विश्वरूपदर्शन (११।१५-३०) के प्रसंगमे रहस्यात्मक शैलीका प्रयोग किया गया है। ब्रह्मके विवेचनके अतिरिक्त अन्य प्रसंगोमें भी रहस्यमयी भाषामें कही गयी अनेक उक्तियाँ प्राचीन भारतीय साहित्यमें स्फुट रूपसे मिलती है ।

---

* "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत. ॥"—ईशावास्योपनिषद् ।

"यस्यामत तस्य मत मत यस्य न वेद स' ।
अविज्ञात विजानता विज्ञातमविजानताम् ।"
—केनोपनिषद् (२।३) ।

"अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतु पश्यति वीतशोको
धातु प्रसादान्महिमानमात्मन. ॥"
—कठोपनिषद् ।

"आसीनो दूर व्रजति शयानो याति सर्वत ।
कस्त मदामद देव मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥"
—कठोपनिषद् (१।२।११) ।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यो
दिश. श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदा ।
वायु प्राणो हृदयं विश्वमस्य

बृहदारण्यक उपनिषद्मे अश्वमेधकी व्यख्या की गयी है। विश्वरूपको अश्वमें आरोपित करते हुए ऋषिने उषाको उसका सिर, सूर्यको आँख, वायुको प्राण, अग्निको मुख और संवत्सरको आत्मा माना है। इसी प्रकार उसके अग-प्रत्यगमे विश्वरूपका संतुलन उपस्थित किया गया है। निर्गुण-साधकोंने भी कायाके अन्दर ही तीर्थ आदि बाह्य कर्मकांडो-

पद्भ्याया पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥"

—मुण्डकोपनिषद् (२।१।४)।

"बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूप
सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतर विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहित गुहायाम् ॥"

—मुण्डकोपनिषद्(३।१।७)

"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्ण ।
स वेत्ति वेद्य न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्य पुरुष महान्तम् ॥"

—श्वेताश्वतर उपनिषद्।

'तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूप यथा महारजन वासो यथा पाण्ड्वाविक यथेन्द्रगोपे यथाऽग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीक यथासकृद्विद्यु त्त सकृद्विद्यु त्तेव या वा अस्य श्रीर्भवति य एव वेदाथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेय सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्य तेषामेव सत्यम् ॥"

—बृहदारण्यक उपनिषद् । (२।३।६)।

[१] "उषा, वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर । सूर्यश्चक्षुर्वात प्राणो व्यात्त-मग्निर्वैश्वानर. सवत्सर आत्माऽश्वस्य मेध्यस्य । द्यौ पृष्ठमन्तरिक्षमुदर

की व्याख्याकी है । पर इससे यह तात्पर्य नहीं निकलता कि उन्होंने किसी रूपमें तीर्थ-यात्राका महत्त्व स्वीकार किया है, या बृहदारण्यककी तरह वे भी तीर्थोंको शरीरके विभिन्न अंगों पर आरोपित करते हैं; बल्कि वे एक प्रकारकी रहस्यात्मक शैलीमें तीर्थोंकी अवहेलना करके अन्तः-

---

पृथिवी पाजस्यं दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पशव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि । ऊवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमान्युद्यन्पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो यद्वि-जृम्भते तद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् ॥१॥ अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमाऽन्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमाऽन्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः संबभूवतु । हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वा-नर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान्समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनि ॥२॥"

—बृहदारण्यक उपनिषद् (१।१।२) ।

"एत्थु से सुरसरि, एत्थु से गंगा साअरु ।
एत्थु पआग वणारसि, एत्थु से चन्द-दिवाअरु ॥
खेत्तु-पीठ-उपपीठ, एत्थु मइँ भमइ परिट्ठओ ।
देहा सरसिअ तित्थ, मई सुह अण्ण ण दिट्ठओ ॥
सण्ड-पुअणि-दल-कमल-गंध केसर वरणालें ।
छड्डहु वेणिम ण करहु सो सॉण लग्गहु वढ आलें ॥
काय तित्थ खअ जाइ, पुच्छह कुल ईणओ ।
वम्ह-विट्ठु तेलोअ, सअल जाहि णिलीणओ ॥
बुद्धि विणासइ मण मरइ, जहि तुट्टई अहिमाण ।
सा माआमअ परम फलु, तहि कि वज्झइ प्राण ॥"

—सरहपा ।

"घट ही भीतर अठसठी तीरथ कहाँ भ्रमै रे भाई"—गोरखनाथ ।

साधनाका समर्थन करते हैं। इस प्रकाहम देखते हैं कि वैदिक कालसे लेकर मध्ययुग तक एक ऐसी अभिव्यंजनाप्रणाली प्रचलित थी, जिसमें सामान्य दार्शनिक सिद्धान्तों तकका विवेचन उलटबासियो, पहेलियों दृष्टकूटों, या अन्य प्रकारकी रहस्यपूर्ण उक्तियोके सहारे ही हुआ करता था। यह प्रणाली दर्शन और काव्य, दोनों क्षेत्रोंमे समादृत थी। निर्गुणियोंने भी परंपरागत रूपमें इसे ग्रहण किया। सही बात यह है कि मनुष्य-मात्रके मनमे किसी वस्तुको चमत्कारपूर्ण ढंगसे प्रस्तुत करनेकी जो भावना होती है, वह नैसर्गिक है। फिर, जहाँ निर्गुण ब्रह्मकी विवेचना करनी पडे, वहाँ तो दूसरा मार्ग ही नहीं। "आज तुलसी साहेबके जिन जाना तिन जानानाहीं' इत्यादिको देखकर इसे एक बार ही शाम देशसे आयी हुई समझ लेनेका जिन्हे आग्रह हो, उनकी तो बात ही दूसरी है, किन्तु केनोपनिषत्के 'यस्यामतं तस्यमतं मतं यस्य न वेद स ' का ही अनुकरण यह नही है, यह कहना सत्यसे दूर होगा ×।" प्रसादजीने साधनात्मक रहस्यवादके भावात्मक हो जानेका जो तर्क दिया है, वह इस दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। उनका कहना है कि जिस प्रकार वैदिक युगमें वरुणको अपदस्थ करके

"कायागढ भीतर देव देहुरा कासी" —गोरखनाथ।

"काया माहै गग तरग । काया माहै जमना सग।।
काया माहै सुरसती । काया माहै द्वारामती
काया माहै कासी थान । काया माहै करै सनान ।।
काया माहै पूजा पाती । काया माहै तीरथ जाती ।।
काया माहै मुनियर मेला । काया माहै आप अकेला ।।
काया माहै जपिये जाप । काया माहै आपै आप ।।"

—दादू।

× 'रहस्यवाद' ('काव्य और कला तथा अन्यनिबंध पृ० ५३, प्रथम सस्करण)—श्रीजयशंकर प्रसाद

इन्द्रने अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी, उसी प्रकार बादमें इन्द्रको हटाकर कृष्णकी प्रतिष्ठा हुई। कृष्ण अपने युगके पुरुषोत्तम थे। उनके व्यक्तित्वमें बुद्धिवाद और आनन्दवादका समन्वय हुआ था। ऐसा लगता है, मानो उपनिषदोंके साधनात्मक रहस्यवादमें इसी आनन्दवाद (या प्रेममूलकता) के समावेशके कारण भावनात्मक रहस्यवादका जन्म हुआ। गीताकी रचनाके समय तक भावनात्मक रहस्यवाद अर्थात् अव्यक्त, अगोचरकी उपासना बहुत-कुछ प्रचलित रही होगी, जिसकी पुष्टि 'क्लेशोऽधिकतर स्तेषाम्' वाले श्लोक (गीता, १२।५) से हो जाती है। भारतीय ऋषियोंने ईरानी सूफियोंसे बहुत पहले स्त्री-पुरुषके रूपमें आत्मा-परमात्मा को अभिव्यक्त किया था ×। सूफी-साधनामें तो, अन्य निर्गुणियोंके विपरीत, परमात्माको ही स्त्री माना गया है, और जीवात्माको पुरुष। मादन-भाव सूफियोंकी देन किसी तरह नहीं कहा जा सकता। कामका, धर्ममें अथवा सृष्टिके उद्गममें बहुत प्रभाव ऋग्वेदके ही समयमें माना गया है--

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेत प्रथम यदासित्"।

इस प्रकार निर्गुणियों पर सूफी-भावधारा का प्रभाव बताना निर्मूल है। स्वयं सूफियों पर वेदान्त और योग का प्रभाव दृष्टिगत होता है। डा० रामकुमार वर्माने अफ़लातूनी और नव-अफ़लातूनी

× वेदोंमें कहा है—

"यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्य किंचन वेद नान्तरम् एकमेवाय पुरुष. प्रज्ञानेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्य किंचन वेद नान्तरम्।"

(जिस प्रकार स्त्री-पुरुषके आलिंगनमें न बाहरका ज्ञान रहता है, न भीतरका, उसी प्रकार आत्मा-परमात्माके आलिंगनके समय केवल उसीका ज्ञान रहता है, उसके अतिरिक्त न बाहरका, न भीतरका।)

दर्शन के द्वारा इस्लाम-संस्कृति पर वेदान्तका प्रभाव बतलाया है।"×
पं० चन्द्रबली पाडे भी तसव्वुफको 'वेदान्त का मधुर रूपान्तर' ही मानते हैं। राहुलजीने सूफियों पर योगका भी प्रभाव माना है†। सूफी कवि मामूद और हाफिजके अणुवाद पर भी कणादके अणुवादकी छाप मानी गयी है। इनके अतिरिक्त क्रेमर (Von Kremer), डोजी (Dozy), साची (Sylvestride Sacy) प्रभृति पाश्चात्योंका भी यही मत है कि सूफी अपने सिद्धान्तोंके लिये वेदान्त के ऋणी हैं। प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे (Goethe) का भी यही विश्वास है। नीरदरायने सूफियों पर उपनिषदों का प्रभाव बताते हुए लिखा है—

"फले रेखा भाडते छेगे सूफी धर्म प्रधानत उपनिषदेर अद्वैतवाद अद्वैतवादेर सहित भक्तिवादेर मिश्रनेर फल।"††

प्रसाद जी सूफी-धर्म पर काश्मीरके साधकोंका प्रभाव मानते हैं।××
म०म० पं० गोपीनाथ कविराजने 'काश्मीरीय शैव दर्शनके संबंधमें कुछ बातें' शीर्षक लेख में यह बताया है कि सूफी-सम्प्रदायके सिद्धांतों और आचार-विचारके साथ प्रत्यभिज्ञा, त्रिपुरा और गौड़ीय वैष्णव-मतका

× 'हिन्दी-साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास'—
(नवीन सस्करण, पृ० ४३०)—डा० रामकुमार वर्मा।

' 'तसव्वुफ अथवा सूफीमत' (पृ० २३७)।— चन्द्रबली पाडे :

† 'दर्शन-दिग्दर्शन'. राहुल साकृत्यायन।

" 'सूफीमत'— प० हरिश्चन्द्र शुक्ल ('सरस्वती', फरवरी) १९४८

†† 'प्रवासी' (फाल्गुन १९४५)।

×× 'काव्य और कला तथा निबध' (प्रथम सस्करण, पृ० ३४)
—श्री जयशकर प्रसाद :

सादृश्य लक्षित होता है *। इस प्रकार विचारोके परस्पर आदान-प्रधान से दो भक्ति-मार्गो या साधनाओका प्रभावित होते रहना असंभव नही होता; पर मूल स्रोत का उद्‌गम कुछ और बात है ।

सच पूछा जाय तो निर्गुण-धारा अपनी पूर्ववर्ती विचार-सरणियोकी मधुकरवृत्तिसे सारग्रहण है । निर्गुण-धारा मलतः स्वदेशी है, उसके ताने-बाने स्वदेशी है, उसका करघा स्वदेशी है, उसके जुलाहे स्वदेशी है । क्या हुआ, यदि इस भारतीय वस्त्र पर कुछ अरबी-फारसी या ईरानी छींटे पड ही गये, जो वास्तव मे अपना अस्तित्व कब का गँवा चुके है ।

* शिवाङ्क' ('कल्याण', पृ० ९२)।

निर्गुण-धारा और प्रातिभ ज्ञान

हिन्दी-साहित्यके जितने भी इतिहास देखनेमें आये हैं, उनमें निर्गुण-काव्य-धारा को दो वर्गों में रखा गया है—ज्ञानाश्रयी और प्रेम-मार्गी। यह विभाजन युक्तिसंगत नहीं लगता। शायद यही कारण है कि किसी भी इतिहास-ग्रंथमें इस विभाजनका आधार स्पष्ट करने की चेष्टा नहीं दीख पड़ती। अतएव हिन्दी-साहित्यके, विशेषत भक्ति-साहित्यके, अध्ययनके प्रसंगमें कई प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनका युक्ति-पूर्ण समाधान कठिन हो जाता है। यह स्पष्ट नही हो पाता कि ज्ञानाश्रयी शाखा के कवियोका ज्ञान किस कोटि का था, और वह सगुण-कवियोंके ज्ञानसे किस मात्रामे भिन्न था। इसके अतिरिक्त, प्रेममार्गी कवियोमे भी ज्ञान-तत्त्व था या नही। यदि था, तो फिर ज्ञान की प्रकृतिके अनुसार इन दोनों शाखाओके बीच कोई विभाजक रेखा खींची जा सकती है, या नही। ऐसे-ऐसे अनेक प्रश्न हैं, जिनका समाधान इस विभाजनके आधार पर संभव नही। फलत. इस प्रकारका भ्रम हो जाना स्वाभाविक है कि सगुण-कवियोकी अपेक्षा निर्गुण-कवि अधिक ज्ञानवंत थे, अथवा सूफियोमे ज्ञान-तत्त्व था ही नही। फिर केवल 'ज्ञानाश्रयी' कह देने से निर्गुण-कवियोके ज्ञानके स्वरूपका ठीक-ठीक बोध नही हो पता—यह कठिनाई अलग है। इस भ्रामक दृष्टिकोणके सहारे हेत्वाभासें तक ही पहुँचा जा सकता है, सत्यका उद्‌घाटन नही हो सकता। वस्तुतः निर्गुणियोंका ज्ञान सगुणियो से सर्वथा भिन्न है; और यह ज्ञान सूफी-साधनाके लिये अपरिचित नहीं, जैसा उक्त विभाजन से ध्वनित होता है।

ज्ञान समान्यतः तीन प्रकारका होता है—जन्मजात ज्ञान, बुद्धिग्राह्य ज्ञान और प्रातिभ ज्ञान। बुद्धिग्राह्य ज्ञानके दो भेद हैं—विज्ञान और

कला। विज्ञान विशिष्ट ज्ञान है, जिसमें विप्रतिपत्ति और विकल्पके लिये स्थान नहीं; और इसके तत्त्व सर्वत्र व्यापक है। कलापरक ज्ञान सीमित और विकल्पात्मक होता है। प्रातिभज्ञान मर्मचक्षु-द्वारा उपलब्ध रहस्य तत्त्वका अखंड परिज्ञान है। इस दृष्टिसे विभाजन करने पर सगुण कवियोका ज्ञान बुद्धिग्राह्य, और निर्गुण-कवियोंका प्रातिभ कहा जा सकता है। समझनेके लिये हम कह सकते है कि सगुण-मार्गी लोक-वेद-पंथी थे, और निर्गुण-मार्गी अनुभवसाँचपंथी। शास्त्रोके विषयमें दोनो के विरोधी दृष्टिकोणोकी तुलनासे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। सगुणियोने सदैव शास्त्रोको श्रद्धाकी दृष्टि से देखा है *—उन शास्त्रोको, जो बुद्धिग्राह्य ज्ञानका अभिव्यक्त शाब्दिक रूप है। दूसरी ओर वे निर्गुणमतवादी कवि है, जिन्होने शास्त्रो और 'आसमानी किताबो' की सर्वथा अवहेलना की है ×। सुन्दरदासके अतिरिक्त शायद ही कोई अन्य निर्गुण-कवि होगा, जिसने वेद, वेदांग, आगम और पुराण आदि शास्त्रोका पूर्ण अध्ययन तो दूर रहा, आंशिक पारायण भी किया हो। निर्गुण-भक्ति-मार्ग में शास्त्रो की सर्वथा उपेक्षा है, और अपेक्षा है सहज समाधि की, जो प्रातिभ ज्ञान से ही संभव है, बुद्धिग्राह्य ज्ञान से नही।

---

* तुलसीदासने कहा है—

"नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि"—'रामचरितमानस'।

"तुलसी वेद पुरान मत, पूजन शास्त्र विचार।
यह वैराग्य सदीपिनी, अखिल ज्ञानको सार॥"—'वैराग्य-सदीपिनी'॥

× "पोथी पढि पढि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेमका, पढ़ैसो पंडित होय॥"—कबीर।

"वेदै अरुझि रहा संसारा। फिरि फिरि होहिं गर्भ अवतारा॥"
—दरिया साहब (बिहार) वाले।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्यके मध्ययुगमें निर्गुण और सगुण भक्ति-काव्यकी जो दो धारायें बहीं, उनमे अन्यान्य विषमताओंके साथ-साथ ज्ञान-विषयक अन्तर भी है, जिसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। पर भक्ति-काव्य के प्रसगमे ज्ञानकी यह चर्चा काव्यत्वके अभावका द्योतक नहीं। यह नहीं कहा जा सकता कि निर्गुण और सगुण-भक्ति-काव्यम 'भाव योगकी साधना' नही है, अथवा 'हृदयकी मुक्तावस्था रस-दशा तक नहीं पहुँचती'। पर भावयोगके साथ-साथ काव्यका जो विचार-पक्ष है, उसके लिये ज्ञान और दर्शनकी चर्चा आवश्यक होती है। विचार-पक्षके स्पष्टीकरणके लिये कलामे ज्ञान और दर्शनकी मीमांसाका महत्त्व है, जिसे अस्वीकृत नही किया जा सकता।

साधनाके उच्चतम स्तर पर पहुँचकर जिसने अपने आपको अच्छी तरह ठोक-बजाकर पक्का कर लिया है, वैसे ही साधकके प्रातिभ ज्ञानमे बुद्धिका किञ्चिदपि लवलेश नही रहता। अपरिपक्वके प्रातिभ ज्ञानमे बुद्धिका कुछ-न-कुछ योग रह जाता है। जिस तरह बुद्धिग्राह्य ज्ञानकी कई कोटियाँ हैं, उसी तरह प्रातिभ ज्ञानकी भी। मस्तिष्क जितना ही अधिक अविकसित रहेगा, बुद्धिग्राह्य ज्ञान उतना ही अधिक निम्न स्तरका

"गरव गुमान भुले सब ज्ञानी। बिद्या वेद पढि मरम न जानी॥"
—दरिया साहब (बिहारवाले)।

'कवेषय गीता'मे एक कहानी है, जो 'गोरक्ष-सिद्धान्त-सग्रह'में भी मिलती है। सभी शास्त्रोमे पारगत होकर दुर्वासा मुनि महादेवकी सभा-में गये। केवल पुस्तकीय ज्ञानकी परिपूर्णता, पर अध्यात्मज्ञानका अभाव देखकर नारदने उन्हे 'भारवाही गर्दभ' कहकर सम्बोधित किया। इस पर दुर्वासाकी आँखें खुली। उन्होने सभी पुस्तकें समुद्रमें फेक दी; और शिवसे अध्यात्म-ज्ञानकी भिक्षा माँगी। निर्गुण-भक्ति-मार्गमें पुस्तकीय विद्याकी उपेक्षा होनेका स्पष्ट सकेत इस दन्तकथामे है।

होगा। उसी प्रकार साधनामें जितनी ही त्रुटि रहेगी, प्रातिभ ज्ञान उतना ही बुद्धिसे प्रभावित रहेगा। सामान्य स्तर पर जिसे हम 'सहज ज्ञान' कहते हैं, वही बादमें जाकर मस्तिष्ककी व्याख्याका विषय बन जाता है। अगर सहज ज्ञान वस्तुतः बहुत ही उच्चकोटिका है, तो उसकी अभिव्यक्ति हो ही नहीं सकती। यत्किञ्चित् हो भी गयी, तो प्रतीक-पद्धति से, सामान्य शब्द-शक्तियोंसे तो बिल्कुल नहीं। यह अनुभव कुछ वैसा ही है, जिसके विषयमें उपनिषद्में कहा गया है कि 'जिसे वाणी नहीं कह सकती, पर जिसकी शक्तिसे वाणी बोलती है' †। ऐसे ही प्रातिभ ज्ञानके भोक्ता ऋषि-मुनियोंने स्पष्ट कह दिया है—'नैषा तर्केण मतिरापनेया'; केवल तर्कके बल पर किसी भी तथ्यका निश्चय करना नितान्त भ्रमात्मक है*। प्रश्न या तर्कसे अन्तिम सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। बृहदारण्यक उपनिषद्में गार्गीके प्रश्न करते जाने पर याज्ञवल्क्यने इसीसे मिलता-जुलता उत्तर दिया है—

'याज्ञवल्क्य, जो (कि) यह सब (विश्व) पानीमें ओतप्रोत है, पानी किसमें ओतप्रोत है?'

'वायुमें, गार्गी!'

'वायु किसमें ओतप्रोत है?'

'अन्तरिक्ष लोकोंमें, गार्गी!'

इसी प्रकार याज्ञवल्क्यने गन्धर्वलोक, आदित्यलोक, चन्द्रलोक, देव-लोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक और ब्रह्मलोकमेंसे प्रत्येक प्रथम लोकका

---

† "यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते"

—'केनोपनिषद्'।

* "यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते।"

—'वाक्य-प्रदीप'।

अपरमें ओतप्रोत होना बताया। इस प्रकार ब्रह्मलोकमें सारे ही ओतप्रोत हुए। इसपर गार्गीने पूछा— 'ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है ?'

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—'मत प्रश्नकी सीमा पार जा, मत तेरा सिर गिरे। न पार की जाने वाली प्रश्नकी सीमाके देवताके विषयमें तू अति प्रश्न कर रही है। गार्गी, मत अति प्रश्न कर'।

प्रश्न या तर्कसे यह नहीं जाना जा सकता कि ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है।इसके लिए प्रातिभ ज्ञान अपेक्षित है।

बृहत् आकाशमें चक्कर काटते रह नेवाले असंख्य ग्रहताराओंकी स्थितिका विवरण देते हुए 'मत्स्य पुराण' मे कहा गया है कि चर्म-चक्षु 'उसे' समझनेमें असमर्थ हैं†। मर्मी दृष्टिसे ही उसका रहस्योद्घाटन हो सकता है। प्रातिभ ज्ञानका संबंध हृदयकी आँखोसे है, बुद्धिकी उलझनोसे नही। प्रातिभज्ञानी कवि रवीन्द्रनाथने भी तर्क-जन्य वादविवादोसे घबड़ाकर कभी कहा था कि 'उनकी बाते मुझे अचरजमें डाल देती है, लेकिन तुम्हारी बात समझमें आती है। तुम्हारा आकाश है, तुम्हारी ही हवा है। यह तो बहुत सीधी-सी बात है'—

"ओदेर कथाय धाँदा लागे
तोमार कथा आमि बुझि।
तोमार आकाश तोमार बाताश
एइ त शवइ शोजाशुजि॥"

वास्तवमें यह बहुत उच्च कोटिका ज्ञान है। साक्षात्कृतधर्मा ऋषि-जनोंके प्रातिभ चक्षुओं-द्वारा दृष्ट अपरोक्ष तथ्योंकी राशिका ही दूसरा

---

† "वैश्वरूप्य प्रधानस्य परिणाहोऽस्य य' स्मृत।
तेषा शक्य न सख्यातुं यथातथ्येन केनचित्।
गतागत मनुष्येण ज्योतिषा मासचक्षुपा॥"
—'मत्स्यपुराण'।

नाम वेद या श्रुति है †। अतः वेदोका आश्रय लेना भारतीय तत्त्वज्ञानके अन्धविश्वासका सूचक नही, अपितु ऋषियो-द्वारा अनुभूत अपरोक्ष सत्यका सहारा लेना है। उपनिषदोके प्रणेता ऋषि-मुनियोके प्रातिभ ज्ञान पर किसी प्रकारका भी दोषारोपण नहीं हो सकता। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक डायसनने उपनिषदोको 'भारतीय ज्ञान-विज्ञानरूपी वृक्षका कमनीयतम कुसुम' कहा है। शापेनहावरको तो अपने अनेक सिद्धान्तोकी स्फूर्ति इन्हीसे हुई। उन्होने यहाँ तक कहा कि उपनिषदें मेरे जीवनमे सन्तोष देनेवाली रही है, और मृत्युमें भी सन्तोष देनेवाली रहेगी। प्राचीन भारतीय ऋषियोने ब्रह्मके सत्य स्वरूपको मन्त्रोके रूपमे देखा था। यही कारण है कि उन्हें मन्त्रोका 'स्रष्टा' न कहकर 'द्रष्टा' कहा गया है --- 'ऋषयो मंत्रद्रष्टार.'। ऋषियोकी यह दृष्टि दादूके शब्दोमें 'ब्रह्मदृष्टि' कही जा सकती है।

दादूके अनुसार दृष्टि तीन प्रकारकी है, जिनमे ब्रह्मदृष्टि सर्वश्रेष्ठ है *। आत्मदृष्टिको हम चर्मदृष्टि और ब्रह्मदृष्टिके बीचकी अवस्था मान सकते है। किसलैडने इसीका विभाजन चार वर्गोमें किया है--- चर्मदृष्टि (Physical), मनोवैज्ञानिक दृष्टि (Psychological), आत्मदृष्टि (Mental) और आध्यात्मिक दृष्टि (Spiritual)। पर डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वालके मतसे दादूकी 'चर्मदृष्टि' के

---

† "प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एत विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता॥"
(सायणाचार्य---'तैत्तिरीयक भाष्य' : भूमिका)।

* "चर्मदृष्टि देखे बहुत करि आतम दृष्टी एक।
ब्रह्मदृष्टि परचै भया (तब)दादू बैठा देख॥" ---दादू।

अन्तर्गत किसलैंडकी चर्मदृष्टि और मनोवैज्ञानिक दृष्टि दोनोंही आ जायेंगी। इन दृष्टियो पर आधारित प्रातिभ ज्ञान निश्चय ही एक-दूसरेसे भिन्न होंगे। ब्रह्मदृष्टि पर आधारित प्रातिभ ज्ञान निस्सन्देह सर्वश्रेष्ठ है।

ब्रह्मदृष्टिजन्य प्रातिभ ज्ञान बुद्धिजन्य कालिमासे सर्वथा अस्पृष्ट होता है। जब तक चर्मदृष्टि और आत्मदृष्टि रहती है, तब तक बुद्धिके विकार भी प्रातिभ ज्ञानके साथ घुले-मिले रहते है। सन्त अरविन्दने दादू और किसलैंडकी ही तरह सामान्य मानसिक चेतनाके अतिरिक्त पाँच प्रकारकी अन्य चेतन सत्ताओका उल्लेख किया है—उन्नत दृष्टि (Higher mind), दिव्य दृष्टि (Illumined mind) सहज दृष्टि (Intuition mind), असामान्य दृष्टि (Over mind) और अलौकिक दृष्टि (Super mind)। प्रत्येक चेतन सत्ता प्रातिभ ज्ञानकी निष्पत्तिमे समर्थ है, किन्तु सबोके प्रातिभ ज्ञान परस्पर भिन्न होगे। प्रथम तीन प्रकारकी चेतन सत्ताओमें बुद्धिका न्यूनाधिक योग वाछनीय हैं। फलत. तज्जन्य प्रातिभ ज्ञान भी उतना महत्त्वपूर्ण नही। शेष दो प्रकारकी चेतन सत्ताओ पर आधारित प्रातिभ ज्ञानकी अधिक महत्ता है। अरविन्दने बुद्धिग्राह्य ज्ञानकी अपेक्षा अलौकिक चेतन सत्ताजन्य प्रातिभ ज्ञानको अधिक मान्य और कल्याणप्रद बतलाया है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नही कि उन्होने मस्तिष्ककी अवहेलना की हो। जब तक प्रातिभ ज्ञान अलौकिक चेतन सत्तासे प्रेरित नही होता, तब तक जीवनको सुचारु रूपसे चलानेके लिये बुद्धिकी उपयोगिता सर्वमान्य है। सर राधाकृष्णन्ने भी प्रातिभ ज्ञान और विज्ञानको एक दूसरेका विरोधी नहीं, बल्कि पूरक कहा है। प्रातिभ ज्ञान वैसे अन्धकारको भी आलोकित कर सकता है, जहाँ विज्ञानकी पहुँच नही हो पाती। 'भारतीय आर्य धर्ममें तर्कणा और अध्यात्म विरोधी न होकर सहचारी है। ऋग्वेद और

और यजुर्वेदमें सेवा और केतु (Intuition), दोनो शक्तियोका विकास अपेक्षित है' †।

प्रातिभ ज्ञान पर कबीरने भी विचार किया है। उनके द्वारा प्रतिपादित सात प्रकारकी सुरतियाँ ही सात प्रकारके प्रातिभ ज्ञानका पर्यायवाची हैं ×। जिसे निर्गुणिये 'सहज भाव' कहते हैं, उसे ही हक्सलेने 'A thirdthing', और वर्गसांने प्रातिभ ज्ञान कहा है। राधाकृष्णन् इसी को 'आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि' या 'रहस्यवादी अनुभूति' कहते हैं, जो बुद्धिकी समस्त सीमाओका अतिक्रमण करके तर्कजन्य गुत्थियोको सुलझाया करती है।

पाश्चात्य दार्शनिकोंने प्रातिभ ज्ञान पर बहुत-कुछ विचार किया है। ईसाकी उन्नीसवीं शताब्दीसे आधिभौतिक दृष्टिके विरुद्ध आध्यात्मिक प्रतिवर्त्तन (Reaction) आरंभ होता है। सामान्यतः यूरोपीय दर्शन बुद्धिवादी है; फिर भी कुछ विचारकोने बुद्धिजन्य ज्ञान को सर्वथा भ्रामक बताया है। मिश्रदेशीय दार्शनिक प्लाटिनस बुद्धिवादका विरोधी था। मध्ययुगके दार्शनिको ने भी बुद्धिकी निरर्थकताको स्पष्ट शब्दोमें जनत.के बीच रखा। जर्मन दार्शनिक हीगल और काण्टने बौद्धिक धारणा को अपूर्ण ठहराया है। किन्तु तर्क पर जबर्दस्त आक्रमण सर्वप्रथम ब्रैडलेने किया। इसके पहले भी १७वीं शताब्दीमें स्पिनोज़ाने प्रातिभ ज्ञान पर विचार किया था। उसके मतानुसार ज्ञानके

---

† 'साहित्यिक निबंधावली' (स०—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री और प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा) में संग्रहीत 'भगवान बुद्धका रहस्यवाद' शीर्षक लेख—ले० प्रो० विश्वनाथ प्रसाद सिंह वर्मा।

× " सात सुरति सब मूल है, प्रलयहुँ इनही माहि।
इनही में से ऊपजे, इनहीं माँह समाहिं ॥"
—कबीर।

तीन प्रकार हैं—व्यावहारिक ज्ञान (Empirical Knowledge), वैज्ञानिक ज्ञान (Scientific Knowledge) और प्रातिभ ज्ञान (Intuitive Knowledge)। उसने प्रातिभ ज्ञानको सर्वश्रेष्ठ मानकर भी व्यावहारिक और वैज्ञानिक ज्ञानको नगण्य नहीं ठहराया। ये दोनो ज्ञानके दो विकास-स्तम्भ हैं, अत इनका भी महत्त्व है। स्पिनोजाके अनुसार व्यावहारिक और वैज्ञानिक ज्ञानकी चरम परिणति प्रातिभ ज्ञानमें होती है।

• आगे चलकर उन्नीसवी शताब्दीके यूरोपमें प्रातिभ ज्ञानके समर्थकों की जैसे वाढ़ आ गयी हो। एडवर्ड कारपेण्टरने 'Civilization, its cuases and cure' नामक पुस्तकमें उस वैज्ञानिक प्रवृत्ति का विरोध किया है, जिसमें बुद्धि-क्रिया ही सब कुछ मानी गयी है, एवं मनुष्यके हृदय-पक्ष और सहानुभतिका सर्वथा तिरस्कार किया गया है। कारपेण्टरने 'शब्दवोधकी प्रणाली'को 'अज्ञानकी प्रणाली' कहा है। प्रसिद्ध यूरोपीय दार्शनिक वर्गसाँके 'प्रातिभ ज्ञान' की भी चर्चा यहाँ अपेक्षित है। "इस विचारकने भौतिक विज्ञानकी बौद्धिकताकी तीव्र आलोचना की है। उसका बुद्धि-विरोध ब्रैडलेकी अपेक्षा अधिक संगत और उग्र है। सक्षेपसे, बर्गसाँका कहना है कि विश्वका मूल तत्त्व गतिमय, प्रवाहमय एवं काल संक्रमण-रूप (Duration) है। हमारी बुद्धि, जिसकी प्रेरणा व्यावहारिक समस्यायें है, प्रवाह-रूप विश्व-तत्त्वको स्थिर प्रदर्शित करती है। बुद्धिजन्य ज्ञान, इसलिये, प्रमाण नहीं है"*। वर्गसाँके शब्दोमें प्रातिभ ज्ञानएक प्रकारकी बौद्धिक सहानुभूति है, जिसमें हम किसी वस्तुके अन्तस्तल तक पहुँचकर उसकी विशिष्टताओसे अपना तादात्म्य कर सकते है, और जिसकी प्रतीति अनिर्वचनीय है।

किसी वस्तुके अन्तस्तल तक पहुँचनेका विधान ही इस बातका यथेष्ट प्रमाण है कि बर्गसाँके दर्शनमे बौद्धिक प्रतिक्रियाओके लिये लेशमात्र भी स्थान

* 'पूर्वी और पाश्चात्य दर्शन' —डा० देवराज।

नहीं; और अपनी अन्यान्य कृतियोंमें उन्होंने स्पष्ट रूपसे इसे अभिव्यक्त भी किया है। फिर भी यह समझमें नही आता कि उन्होने 'सहानुभति' के साथ 'बौद्धिक' विशेषण क्यों रखा। इसमें संदेह नहीं कि 'बौद्धिक' की अपेक्षा 'सहानुभूति' पर उनका अधिक ज़ोर रहा होगा (और वह भी 'सहानुभूति' के शाब्दिक अर्थ पर, व्यावहारिक अर्थ पर नहीं)। प्रातिभ ज्ञानके क्षेत्रमें वर्गसाँकी अपने साध्यके प्रति ऐसी एकतानता, डा० एस० के० मैत्रके अनुसार, पतञ्जलिके शब्दोंमें, 'समापत्ति' कहलाती है। किन्तु योग-दर्शनमें 'समापत्ति' को पूर्ण ज्ञानके लिए यथेष्ट नहीं माना गया। यह तो सम्प्रज्ञात समाधि तक पहुँचनेका एक सोपान है, और वह भी अन्तिम सोपान नहीं। सम्पूर्ण ज्ञानके लिए सम्प्रज्ञात समाधि में समापत्तिके बाद ऋतम्भरा प्रज्ञासे होते हुए निर्वीज असम्प्रज्ञात समाधि तक की यात्रा करनी पड़ती है। तब जाकर विषयका अखड और यथार्थ बोध होता है। अतः ऐसा कहा जा सकता है कि वर्गसाँके प्रातिभ ज्ञानमें एक प्रकारकी संकीर्णता दिखाई देती है। उनकी बौद्धिक सहानुभूति (Intellectual sympaathy) कितनी भी उच्च कोटि की क्यो न हो, तज्जन्य प्रातिभ ज्ञान दादूके ब्रह्मदृष्टिजन्य प्रातिभ ज्ञानसे निम्न कोटिका ही समझा जायगा। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि अपनी पुस्तक 'Introduction to Metaphysics' के अन्तमें वे अकस्मात् ऐसे निष्कर्ष पर पहुँच गये हैं, जहाँ प्रातिभ ज्ञानका वही उदात्त स्वरूप है, जो दादू, किसलैंड, अरविंद आदिने बताया है। उनकी प्रातिभ ज्ञानकी परिभाषाको देखते हुए ऐसे निष्कर्षकी संभावना विलकुल ही नही की जा सकती।

प्रातिभ ज्ञानकी उदात्त कल्पना पतञ्जलिकी 'मधुमती भूमिका' से भिन्न नही है। "मधुमती भूमिका चित्तकी वह विशेष अवस्था है, जिसमें वितर्ककी सत्ता नही रह जाती। शब्द, अर्थ, और ज्ञान, इन तीनों

की पृथक् प्रतीति वितर्क है" †। पातंजल योगसूत्रोके भाष्यकर्त्ता वेदव्यासने साधककी इस अवस्थाको बड़े सुन्दर ढंगसे प्रस्तुत किया है।

"मधुमती भूमिकां साक्षात्कुर्वतोऽस्य देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः स्थानैरुपनिमन्त्रयन्ते—भो इहास्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयं भोगः, कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्युं बाधते, वैहायसमिदं यानम्, अमी कल्पद्रुमाः, पुण्या मन्दाकिनी, सिद्धा महर्षयः, उत्तमा अनुकूला अप्सरसः, दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी, वज्रोपमः कायः, स्वगुणैः सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता, प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजरममरस्थानं देवानां प्रियमिति"।

(मधुमती भूमिकाका साक्षात्कार करते ही साधककी शुद्ध सात्त्विकता देखकर देवता अपने-अपने स्थानसे उसे बुलाते हैं—इधर आइये, यहाँ रमिये। इस योगके लिये लोग तरस रहे हैं। देखिये, कैसी सुन्दर कन्या है। यह रसायन बुढापा और मौत, दोनोको दबाता है। यह आकाशयान, ये कल्पवृक्ष, यह पावन मन्दाकिनी, ये सिद्ध महर्षिगण, ये उत्तम और अनुकूल अप्सरायें, ये दिव्यश्रवण, यह दिव्य दृष्टि, यह वज्र-सा शरीर—सब आपने ही तो अपने गुणोसे उपार्जित किया है। फिर पधारिये न, इस देवप्रिय, अक्षय, अजर, अमर स्थानमे।)

सूफियोने भी प्रातिभ ज्ञान अर्थात् 'म्वारिफ' को अपने 'दीदार'से मिलनेका सहज साधन माना है। बिना म्वारिफके उद्बुद्ध हुए हक़ीक़त तक पहुँचा ही नही जा सकता—उस हक़ीक़त तक, जिसे सूफियोने अपना चरम लक्ष्य माना है, और जिसके पूर्व शरीयत, तरीकत और मारिफ़त, इन तीनो सोपानोको पार करना पडता है। शरीयत इस्लामी कर्मकांडसे भिन्न नही। उसके मुकामात है—तोबा, जहद, सब्र, शुक्र, रिजाअ, खौफ, तवक्कुल, रज़ा, फिक्र और मोहब्बत। वस्तुतः सूफी-साधनाका प्रारम्भ तरीकतसे ही समझना चाहिये। इसमें भी शरीयतकी तरह कर्मकांड

† 'मेघदूत' —(अ०—प० केशवप्रसाद मिश्र) की भूमिका।

ही है, पर उतने अधिक परिमाणमें नहीं। म्वारिफ़के उद्बुद्ध होनेके पूर्व तक तरीकतकी अवस्था रहती है। यहाँ म्वारिफ़ तरीकत तक पहुँचानेके वाद जव और भी ऊर्ध्वमुखी हो जाता है, तव साधकको हकीकतकी प्रतीति होती है। अव्द (आत्मा) को अल्लाह (परमात्मा) से मिलानेवाला म्वारिफ़ ही है। म्वारिफ़की प्राप्ति सहज ही नहीं हो सकती। इसके लिये गुरुका आश्रय लेना पडता है, जिसके सहज संकेतसे सालिक (साधक) का मन शरीर और दुनिया-धन्धेसे विरक्त होकर हृदयस्थ सहज बुद्धिमे लग जाता है। 'पदमावत'से रतनसेन (मन) को पद्मिनी (म्वारिफ़) की प्राप्तिके पूर्व हीरामन तोता (मुर्शिद) का मुरीद वनना पड़ा, तव कहीं वह चित्तौड़ (तन) और नागमती (नफ़्स) को छोड़कर सिंहलद्वीप (रूह) मे प्रवेश कर सका, और अंतमें, साधनाकी अनेकानेक कठिनाइयोके वाद पद्मावती उसकी होकर रही *।

म्वारिफ इल्मसे सर्वथा भिन्न है। "इल्मको तो सूफियोने 'आवरण' तक कह दिया। म्वारिफ़ और इल्ममें स्वभावतः विद्या और अविद्याका भेद है" †। इस प्रकार इल्म म्वारिफ़का सर्वथा विरोधी है। "इल्म और म्वारिफ़, ज्ञान और प्रज्ञानका भेद वताकर सूफी कवि जुलनूनने प्रेमका प्रज्ञात्मक सिद्ध किया" ×। उसका कहना है कि 'परमेश्वरका ज्ञान हमें

---

* "तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेइ पथ दिखावा।
विनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥"

—'पदमावत'।

† 'तसव्वुफ अथवा सूफी मत' —चन्द्रवली पाडे।

× वही।

परमेश्वरसे ही प्राप्त होता है' ×। इमाम ग़ज़्ज़ालीको भी, जिसने इस्लाम और तसव्वुफ़के आपसी विरोधका परिहार करके दोनोंमें समन्वय स्थापित किया था, तर्क-वितर्क और कलाम पर कोई आस्था नहीं थी। "सूफी अक्ल और इल्मका प्रसार नहीं चाहते। उनकी दृष्टिमें इससे नफ़्स † का विरोध नही होता, बल्कि उसे और मदद मिल जाती है। उनके विचारोसे इल्म वह आवरण है, जो रूह + को ढक लेती, और। साक्षात्कार नही होने देती है। सूफी इल्मको ईश्वरीय देन नही मानते, उनकी दृष्टिमें यह बुद्धि-विलास ही है। हाँ, म्वारिफ़का सत्कार अवश्य करते है। म्वारिफ़के उदयसे इल्म और अक्ल की जरूरत नहीं रह जाती और रूहको परमरूहका साक्षात्कार हो जाता है।" ** औरों की तरह सूफियोंने भी म्वारिफ़की अनुभूति को अनिर्वचनीय माना है, और इसकी

× वही।

† सूफी नफ्सको इबलीसकी दूती, अथवा शैतानकी कुटनी समझते हैं, जो प्रेमीको प्रियतमसे विमुख करके उसके हृदयमें अन्यथा भाव भरती है। नफ्स विषय-वासनाको सूँघती, भोग-विलासको ढूँढती, और तरह-तरहकी काट-छाँट करती आत्म-प्रवचनामे लीन रहती है। इसलिये अन्तिम रसूलने नफ्सको इन्सानका सबसे भयकर शत्रु कहा, और उससे सावधान रहनेकी अपने बन्दोको सलाह दी। हम चाहे तो नफसको वासना या चित्तवृत्ति कह सकते है, जिसके निरोधके लिये सूफी साधना करते है।" —वही।

+ "यदि नफ्सकी चलती हो तो इन्सान अल्लाहका नाम नही ले। सकता; किन्तु उसमें वह अलौकिक शक्ति है, जो उसे बारबार अल्लाहकी झलक दिखाती रहती है। सूफी उसीको 'रूह' कहते है हमारी रूह तबतक शान्त नही होती, जब तक उसे परमरूहका दीदार नही मिलता।" —वही।

** वही।

अभिव्यक्तिके लिये वे प्रतीक-पद्धतिका प्रयोग करते हैं। फारिज़ने स्पष्ट कहा है कि प्रतीकोंके प्रयोगसे दो लाभ होते हैं। प्रतीकोंकी ओट लेनेसे धर्मकी बाधा भी टल जाती है, और उन भावोंकी अभिव्यञ्जना भी हो जाती है, जिनकी अभिव्यक्तिमें वाणी मूक एवं असमर्थ रहा करती है। अंगरेजीके कवियोंने इस पद्धतिको 'सांकेतिक भाषा' (The language of Symbols) कहा है।

प्रातिभ ज्ञान उच्चतम कोटिका ज्ञान है, बल्कि यों कहा जाय कि वास्तविक ज्ञान है। इसका सुख, इसका महत्त्व अन्यतम है। कबीरने कहा है—

'कोई है रे सन्तु सहज सुख अन्तरि जाकउ जपु तपु देउ दलाली रे'।

—है कोई ऐसा सन्त, जिसके हृदयमें सहजका सुख है? उसे मैं अपना समस्त जप-तप दलालीमें दे सकता हूँ।

इस सहज-सुखकी प्राप्तिके साथ ही जरा-मरणकी शंका नष्ट हो जाती है। यह तो ऐसी ज्योति है, जो अन्धकारको नष्ट करके रामरूपी रत्नको प्रकट कर देती है।

"मरन जीवन की संका नासी।
आपन रगि सहज परगासी॥
प्रगटी जोति मिटिआ अँधियारा।
राम रतनु पाइआ करत विचारा॥"

सहज समाधि तो गूँगेका गुड़ है। चखनेवाला क्योंकर बता सकता है कि इसका स्वाद कैसा है!

'कहुकबीर गूँगे गुड़ खाइआ पूछे ते किआ कहीये'।

उसे समझनेके लिये भाषाकी बिलकुल ही अपेक्षा नहीं। यहाँ भाषा मूक हो जाती है, और संकेत वावदूक, मुखर—

'सैना-बैना कहि समझाओ गूँगे का गुड़ भाई'।

कभी-कभी तो अभिव्यक्तिका कोई भी साधन उस अनुभूतिको व्यक्त करनेमें असमर्थ हो जाता है। यही कारण है कि ब्रह्मके वर्णनमें निर्गुण-

सन्तोंने चिर-परिचित 'नेति-नेति' की प्रणाली अपनायी है। परमात्माका न रूप है, न रंग, न देह ×। न उसकी कोई तौल है, न माप; न वह हल्का है, न भारी। सच तो यह है कि उसकी परख हो ही नहीं सकती †। वह अभिव्यक्तिके परे है।

वाष्कलिने भावसे पूछा—'आत्मा क्या है ?'। भाव चुप रहे। वाष्कलिने समझा, शायद ऋषिने बात सुनी नहीं। फिर वही प्रश्न किया। इस बार भावने वाष्कलिको तीव्र दृष्टिसे देखा। वाष्कलिने समझा, शायद ऋषि अप्रसन्न हो गये। अतः उसने अबकी बार प्रश्नको नम्रतासे दुहराया। इस पर ऋषिने झुँझलाकर उत्तर दिया—'मैं बतलाता तो हूँ, आत्मा मौन है। तुममें समझ भी हो'। + इसीलिये कबीरने कहा है—

'बोलना का कहिये रे भाई, बोलत बोलत तत्त नसाई'।

ऐसे ब्रह्म को समझनेके लिए मर्म-दृष्टिको उद्बुद्ध करना पड़ता है। हठयोगकी साधनासे चरम तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। किसी तरह हुई भी, तो वह क्षणिक अनुभूति होगी, शाश्वत नहीं। कबीरने, इसलिये, 'पिपीलक-योग' की अपेक्षा 'विहंगम-योग' की साधना को श्रेष्ठतर बताया है—

"सतो धागा टूटा, गगन विनसि गया, सबद जु कहाँ समाई।
ए ससा मोहि निसिदिन ब्यापै, कोइ न कहै समुझाई॥

× "रूप, बरन वाके नहीं, सहजो रग न देह"—सहजोबाई।

† "तोल न मोल, माप किछु नाही, गिनै ज्ञान न होई।
ना सो भारी ना सो हलुआ, ताकी पारिख लखै न कोई॥"
—कबीर।

+ "वाष्कलिना च बाध्व पृष्ट. सन्नवचनेनैव ब्रह्म प्रोवाचेति श्रूयते—स होवाच अधीहि भो इति। स तूष्णी बभूव। तं ह द्वितीये वा तृतीये वा वचन उवाच 'ब्रूम खलु त्व तु न विजानासि। उपशान्तोऽयमात्मा,"।

नहिं ब्रह्मंड प्यंड पुनि नाही, पचतत्त्व भी नाही।
इला प्यगुला सुषमन नाही, ए गुण कहाँ समाही॥
नहि ग्रिह-द्वार कछू नहि तहियाँ, रचनहार पुनि नाही।
जोवनहार अतीत सदा सँगे, ये गुण तहाँ समाही॥

टूटै बँधै बँधै पूनि टूटै, जव जव होइ बिनासा।
तबको ठाकुर अबको सेवग, को काकै बिसवासा॥
कहै कबीर यहु गगन न विनसै, जो धागा उन्माना।
सीख सुने पढे का होई, जो नहि पदहि समाना॥"

—हे सन्तो, हठयोगकी अनेक प्रक्रियाओके बाद जो ध्यान-रूपी सूत्र तैयार हुआ, वह जब टूटा, तो गगनवास या शून्य-समाधि भी नष्ट हो गयी; और जो अनाहत ध्वनि सुनाई देती रही, वह भी न जाने कहाँ चला गयी। मुझे यह संदेह बराबर बना हुआ है, पर कोई इसका समाधान नहीं कर सकता। वस्तुत जो परम पद है, वहाँ पिंड, ब्रह्मांड, परमतत्त्व, इड़ा, पिंगला आदि नाड़ियाँ— ये सब है ही नही। कबीर कहते हैं कि यह सेवक-भावका जो धागा है, वह मेरी समझमें ऐसा है, जिससे कभी भी समाधि नही टूटती। यही समाधि वास्तवमें 'सहज समाधि' है, जिसकी कथा वस्तुतः अकथ और निराली है।

कबीर कहते हैं—

"सहज की अकथ कथा है निराली"।

भक्त रैदासने भी इसी समाधिका गुणगान किया है—

"तोडूँ न पाती पूजूँ न देवा।
सहज समाधि करूँ हरि-सेवा॥"

बिना सहजकी सम्यक् प्रतीतिके मर्मी कवियोंको 'उस' का रहस्योद्घाटन करना तो दूर रहा, उसकी छाया भी पकड़में नही आ सकी। सहज-साधना उतनी सहज नहीं, जितनी नामसे ज्ञात होती है। इसके लिये निश्छल हृदयकी प्रेरणा और सद्गुरुका ज्योति-दान अनिवार्य हैं।

परंपरागत योग और निर्गुणियोंकी योग-साधना

निर्गुण-संतोके बहुत पहले पतंजलिके पूर्व ही (विक्रम पूर्व द्वितीय शतकमें) वैदिक कालसे योगके किसी-न-किसी स्वरूपका उल्लेख मिलता आया है, और अब तो सिधुतटवर्तिनी मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पाकी खुदाइयोसे प्राप्त ध्यानावस्थित मूर्तियोंके अध्ययनसे पुरातत्त्ववेत्ता यहाँ तक कहनेका साहस करने लगे है कि योगकी अवस्थिति वैदिक युगसे भी पूर्व मानी जानी चाहिये*। कही उपनिषदोंके ज्ञानयोगके रूपमें, कहीं गीताके कर्मयोगके रूपमें, कही पतंजलिके राजयोगके रूपमे, कहीं नारद, पुलस्त्य, गर्ग, वाल्मीकि, भृगु, बृहस्पति आदि आचार्योंके मंत्र-योगके रूपमें, कहीं अंगिरा, याज्ञवल्क्य, कपिल, वशिष्ठ, कश्यप और वेदव्यास आदि षट्चक्रभेदी आचार्योंके लययोगके रूपमे, कहीं मार्कण्डेय, भरद्वाज, मरीचि, जैमिनि, पराशर, भृगु, विश्वामित्र एवं सिद्धो और नाथपथियोके हठयोगके रूपमें, कहीं जैनियोके ध्यानयोगके रूपमें और कही निर्गुणियोके सहजयोगके रूपमे इसके इतिहासकी बिखरी कड़ियाँ खोजकर सहज ही शृंखलाबद्ध की जा सकती है। 'ऋक्-संहिता'मे कहा गया है कि योगके बिना कोई भी यज्ञ-कर्म सिद्ध नही होता†। अथर्ववेदमें योग-द्वारा अलौकिक सिद्धि प्राप्त करनेका उल्लेख है। 'योग'

---

* विशेष जानकारीके लिए देखिये—'मोहन-जो-दडो तथा सिधुसभ्यता' ले० श्री सतीशचद्र काला (पृ० ११२–११४, १६०)।

† "यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति॥" —'ऋक्-संहिता' (मण्डल १, सूक्त १८, मंत्र ७)।

शब्द यम-नियमादि अष्टांग योगके अर्थमें कठ, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, मैत्राणी, श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों में प्रयुक्त हुआ है † । फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि पतंजलिके राजयोगसे उसका साम्य है । हाँ, बादकी लिखी हुई इक्कीस उपनिषदें ऐसी देखनेमें आयी है, *

---

† "यदा पचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहु. परमा गतिम् ॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।"

—'कठोपनिषद्' ।

"तदस्मिञ्छरीरे सस्पर्शेनोष्णिमान विजानाति । तस्यैषा श्रुतिर्यत्रै-तत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपश्रृणोति ।"

—'छादोग्य उपनिषद्' ।

"त्रिरुन्नत स्थाप्य समं शरीर हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निरुध्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतासि सर्वाणि भयावहानि ॥
प्राणान्प्रपीड्येह स युक्तचेष्ट. क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥
समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभि. ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥
नीहारधूमार्कानिलानिलाना खद्योतविद्युत्स्फटिकाशनीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुर सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥
पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते पचात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु: प्राप्तस्य योगाग्निमय शरीरम् ॥
लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसाद स्वरसौष्ठवञ्च ।
गन्ध. शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्ति प्रथमा वदन्ति ॥"

—'श्वेताश्वतर उपनिषद्' ।

* अद्वयतारक, अमृतनाद, अमृतबिंदु, क्षुरिका, तेजोबिंदु,

जिनका प्रतिपाद्य विषय ही योग है; और स्व० पं० वटुकनाथ शर्माके मतसे इन्हींके आधार पर 'हठयोग-प्रदीपिका', 'शिव-संहिता' और 'गोरक्ष-पद्धति' आदि ग्रंथोंकी रचना हुई है, जिन्हे हम बहुत अंशोमें नाथ-पंथकी यौगिक धाराका मूल स्रोत कह सकते है। 'गोरक्ष-पद्धति'में कहा गया है कि योग-शास्त्र वेद-रूपी कल्प-वृक्षका ही फल है*। पुराणोंमें भी वायुपुराणमें, जो अन्य पुराणोकी अपेक्षा प्राचीन माना जाता है, पाशुपत-योगका उल्लेख है। पाशुपत-योगके आदि प्रवर्त्तक भगवान् शिव हैं। मंत्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोगके भी आदि प्रवर्त्तक भगवान् शिव ही माने जाते हैं। इसलिये शिव को 'योगीश्वर' कहा गया है। 'पिनाकपाणि' या 'भृगुपति'से भी जब उनकी संज्ञा दी जाती है, तो प्रतीक-पद्धतिसे उनका आदियोगी होना ही व्यंजित होता है ×। उन्होने स्वयं कहा है कि 'मेरे बतलाये हुए मार्गके अनुसार मुझमे मन लगाकर दूसरी वृत्तियोका निरोध करना ही योग हैं†। 'शिवपुराण', 'लिङ्गपुराण', 'स्कन्दपुराण' और 'अग्निपुराण' में भी षट्चक्रोका उल्लेख मिलता है; किन्तु पुराणोके षट्चक्र-वर्णन और तन्त्रोंके षट्चक्र-वर्णनमें कुछ भेद है। पुराणोमें इनका वर्णन सीधा-सादा

त्रिखिरिव, ब्राह्मण, दर्शन, ध्यानबिंदु, पाशुपतब्रह्म, ब्रह्मविद्या, मण्डल-ब्राह्मण, महावाक्य, योगकुण्डली, योगचूडामणि, योगतत्त्व, योगशिखा, वराह, शाण्डिल्य, हस और योग उपनिषदे।

* "द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरो फलम्।
शमन भवतापस्य योग भजत सत्तमा ॥"

—'गोरक्ष-पद्धति'।

× 'शिवका स्वरूप' वासुदेवशरण अग्रवाल
—(शिवाङ्क, 'कल्याण', पृ०४९१–५०४)।

† "मयुक्तेनैव मार्गेण मय्यवस्थाप्य चेतसः।
वृत्त्यन्तरनिरोधो य स योग इति गीयते ॥"

है, पर तन्त्रोंमें इनपर रहस्यात्मक आवरण डाल दिया गया है। 'देवी-भागवत'में भी षट्-चक्र-भेदनकी प्रणाली बतलायी गयी है। किस तरह मूलाधारमें कुण्डलिनीके साथ जीवको हंस-द्वारा मिलाया जाय, इसका भी उपाय उसमे उल्लिखित है। गीताके भाष्यमें शंकरने बतलाया है कि पहले अनाहतको वशमें करके साधक मूलाधार इत्यादिको जीतकर सुषुम्णाकी ओर जाता है। वह प्राणको दोनो भवोंके बीचमें रखकर पुरुषकी ज्योतिके दर्शन करता है।

बौद्धोंकी भी योग पर आस्था थी। स्वयं बुद्धने ज्ञान प्राप्त करनेके पूर्व बहुतेरी यौगिक प्रक्रियाओंका आश्रय लिया था। अभी तक यह अज्ञात है कि उन्हे ज्ञान प्राप्त करनेमें योग-प्रदत्त सिद्धियाँ कहाँ तक सहायक हुई थीं। गान्धारी विद्या, आवर्तनी विद्या तथा इसी तरहकी अन्य विद्यायें भी बुद्धके जीवन-कालमें ही पनप रही थीं। 'ललित-विस्तर'में स्पष्टतः ऐसी विद्याओंका उल्लेख पाया जाता है। 'सुत्त-पिटक'के अनेक सुत्तोंमें बुद्धने समाधिकी शिक्षा दी है। 'धम्मपद'के 'मग्गवग्गो' नामक प्रकरणके दसवें श्लोकमें कहा गया है कि योगाभ्याससे ज्ञान बढ़ता है, योग न करनेसे ज्ञानका क्षय होता है×। बुद्धकी प्राचीनतम मूर्ति पद्मासनमें ही उपलब्ध हुई है। "आचार्य बुद्धघोषका 'विशुद्धिमग्ग' योगपर बौद्धधर्ममे सबसे अधिक प्रमाणित तथा उपादेय ग्रन्थ है, जिसमें हीनयानकी दृष्टिसे ध्यानयोगका विस्तृत तथा विशद विवेचन मिलता है। महायानमें भी योगका महत्त्वपूर्ण स्थान है। योग और आचारपर समधिक महत्त्व प्रदान करनेके कारण ही विज्ञानवादी 'योगाचार'के नामसे अभिहित किये जाते हैं।"† मंत्रयान और वज्रयानमें तो इसकी महत्ता सर्वोपरि हो गयी। पंच-ध्यानी बुद्धों (वैरोचन, रत्नसंभव, अमिताभ, अमोघसिद्धि और अक्षोभ्य) की कल्पनामें हम हठयोगका बहुत-कुछ आभास पाते हैं। प्रसिद्ध बौद्ध

× "योगा वे जायसी भूरि आयागा भूरिसङ्ख्यो."।

† 'बौद्ध-दर्शन' (पृ० ३९५) : पं० बलदेव उपाध्याय।

नागार्जुनके विषयमें कहा जाता है कि उसने नासिका-रन्ध्रसे जल चढ़ा-चढ़ाकर अपनी आयु बढ़ा ली थी। इस तरहकी क्रिया योग-मार्गमें षट्-कर्मके ही अन्तर्गत मानी जायगी।

जैनियोंने भी योगकी प्रतिष्ठा की थी। आचार्य हेमचंद्रकृत योग-शास्त्रमें धर्म-ध्यानके अंतर्गत 'पदस्थ' नामक ध्यानमें षट्चक्र-भेदनकी विधिका उल्लेख है।

महाभारतमें योग और योग-शास्त्रके वर्णन हजारों जगह पाये जाते हैं; फिर भी पतंजलिके नाम तकका उसमें उल्लेख नहीं है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पतंजलिके योग-सूत्रोंकी रचना महाभारत-के बाद हुई होगी। महाभारतके 'शांतिपर्व'के ३१६वें अध्यायमें योगका विस्तृत वर्णन है। इसमें पतंजलिके अष्टाङ्ग-योगकी क्रियाओंतक का उल्लेख है। 'अनुशासन-पर्व'के १४वें अध्यायमें अणिमा, महिमा, प्राप्ति, सत्ता, तेज और अविनाशिका—ये छः योगकी सिद्धियाँ वर्णित हैं। महाभारतमें योगकी परंपराका भी ब्योरेवार इतिहास मिलता है। सर्वप्रथम यह योग हिरण्यगर्भने वशिष्ठको सिखाया, वशिष्ठने नारदको और नारदने भीष्मको। 'शांतिपर्व'के २१४वें अध्यायमें शांडिल्य भी योगके आचार्य माने गये हैं।

महाभारतसे ही संबद्ध हिंदुओंकी प्रसिद्ध पुस्तक 'श्रीमद्भगवद्गीता' का भी योगसे विरोध नहीं। कितने विद्वान् तो गीताको योगशास्त्र कहते हैं, जिसके प्रमाणमें वे उसके प्रत्येक अध्यायके अंतमें आये हुए 'योगशास्त्रे' शब्दका उल्लेख करते हैं †। गीताके छठें अध्यायमें योगीको कर्मकांडियों, ज्ञानियों और तपस्वियोंसे भी श्रेष्ठ कहा गया है ×। इसमें

---

† "ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे··'योगोनाम'··'अध्याय'"।

× "तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

यौगिक विधियोका साङ्गोपाङ्ग उल्लेख है, जो 'श्वेताश्वतरउपनिषद्'-द्वारा प्रतिपादित पद्धतिसे सर्वांशतः मिलता है। ज्ञानेश्वरने भी गीताको योगशास्त्र कहा है। लेकिन गीताके योग-मार्गका पर्यवसान कर्म-मार्गमें होता है। कृष्ण योगी होकर भी कर्मयोगी है। वस्तुतः देखा जाय तो योगमार्गका कर्म-मार्गसे कोई विरोध नहीं। स्वयं आदियोगी महादेवने लोकमंगलकी भावनासे प्रेरित होकर ही विष तकका पान कर लिया था। निर्गुण- संतोने इसी अर्थमें योगकी दीक्षा ली। उनके सामने यौगिक साधनाके अतिरिक्त समाजके प्रति कुछ कर्त्तव्य भी था।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥"—'गीता'।

* "योगी युञ्जीत सततमात्मान रहसि स्थित ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रह. ॥१०॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मन ।
नात्युच्छ्रित नातिनीच चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्र मन कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रिय ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥
सम कायशिरोग्रीव धारयन्नचल स्थिर ।
सप्रेक्ष्य नासिकाग्र स्व दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशातात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थित. ।
मन सयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्पर ॥१४॥
युञ्जन्नेव सदात्मान योगी नियतमानस ।
शान्ति निर्वाणपरमा मत्सस्थामधिगच्छति ॥ १५॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु.खहा ॥१७॥"

—'गीता' अध्याय ६

यह उनका कर्मयोग ही है कि उन्होने तत्कालीन संघर्षमय वातावरणमें प्रेम और सहिष्णुताकी महत्ताका निरूपण किया है, और उपेक्षित शूद्रोंको उनकी वास्तविक स्थितिसे परिचित कराया है।

इसके अतिरिक्त भी निर्गुण-संतोने नाम-स्मरणके प्रसंगमे मन्त्र-योगका आश्रय लिया है, और -आत्मसमर्पणके प्रसंगमे भक्तियोगकी महत्ता स्वीकार की है। ध्यानयोगकी ओर भी उनकी प्रवृत्ति देखनेको मिल सकती है। मायाके प्रत्याख्यानके लिये उन्होने ज्ञानयोगका सहारा लिया है। लेकिन इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि हठयोग, लययोग और सहजयोगकी जितनी प्रधानता उनकी रचनाओमे है, उतनी अन्यान्य यौगिक क्रियाओकी नहीं। और इसका भी कारण है। इसमें सन्देह नहीं कि निर्गुणमत नाथपंथका ही संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण है। नाथपंथमे हठयोग और लययोग-जैसी साधनात्मक प्रक्रियाको भी स्वीकार किया गया है। लेकिन कबीर-दादू प्रभृति संतोने, जो हठयोग और लययोगकी निस्सारताका अनुभव कर चुके थे, इस कृच्छ्र-साधनाका प्रत्याख्यान कर सहजयोग का गुणगान किया है।

सिद्धपंथ, नाथपंथ और निर्गुणमत एक ही साधना-पद्धतिके तीन विकास-स्तम्भ है। सिद्धोने आठवी शताब्दीसे लेकर बारहवीं शताब्दी तक बौद्धतंत्रोको स्पष्टतया अपने साहित्यमे प्रश्रय दिया। कितने सिद्धोने तो संस्कृतमें तंत्र-ग्रंथोकी रचना तक की है। उनके रचे हुए ग्रंथोमें सरोजवज्रकी 'गुह्यसिद्धि' तथा 'हेवज्रतंत्र', उनके शिष्य अनगवज्रकी 'प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि', 'श्रीहेवज्रशासन' और 'हेवज्रनामसाधनोपायिका', अनंगवज्रके शिष्य इन्द्रभूति की 'सहजसिद्धि', 'चक्रसंवर' आदि तथा इनकी भगिनी श्री लक्ष्मीकरा देवीकी 'अद्वयसिद्धि' विशेष महत्त्वपूर्ण है। इन्ही ग्रंथोमें प्रतिपादित यौगिक प्रक्रियाये सिद्धोकी कविताओका प्रधान अंग बनी। कौलोकी

'चक्रपूजा' की तरह वज्रयानियोंने भी साधनामें मद्य-मांस-मैथुनकी अनुमति दे रखी थी। कहा जाता है कि कौलोंकी तरह शाब्दिक अर्थमें-ही इनका महत्त्व नहीं था, बल्कि ये एक-एक साधनाके प्रतीक थे, जिनका रहस्योद्घाटन डाक्टर प्रबोधचन्द्र बागचीने अपनी पुस्तक '*Studies in Tantras*' में किया है। लेकिन बादमें सिद्धोंने अपनी अतृप्त वासनाकी तृप्तिके लिये प्रतीकको आँखोंके सामनेसे सर्वांशत हटा दिया, और सहज ही इन्द्रिय-लिप्साके शिकार हो गये। उन्होंने प्रतीकको भौतिक अर्थोंमें ग्रहण किया। अब तो बड़े धडल्लेके साथ 'गुह्यसमाजतंत्र' में प्रति-पादित 'मांसभक्षण', 'सुरापान' और 'सुन्दरीसंग'की उपासना अष्ट-सिद्धियों*की दायित्री मानी जाने लगी। सिद्धोंने खुले आम स्त्री-प्रसंगकी प्रशंसा की और उनके अपने घृणित प्रयोगोंने कामुकोंमें साहस भर दिया। चौरासी सिद्धोंकी संख्याने रतिशैलीकी सख्या पर अपनी छाप डाली।

इन्हीं अश्लील विधानोंके प्रतिक्रिया-स्वरूप नाथपंथकी उद्भावना होती है। गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित नाथपंथ सैद्धान्तिक दृष्टिसे शैवमत-के अन्तर्गत आता है, और उसमें वर्णित हठयोग-सम्बन्धी क्रियायें भी शैव और शाक्ततंत्रोंसे ही ली गयी हैं, फिर भी यह प्रमाणित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि सिद्धोंके बौद्ध-तंत्रसे गोरखने कुछ भी नहीं लिया है। 'गोरखनाथ ऐण्ड दि कनफटा योगिज़' में जार्ज डब्ल्यू ब्रिग्ज़ने यहाँ तक कहा है कि गोरखनाथ पहले वज्रयानी बौद्ध थे, बाद जाकर मत्स्येन्द्रनाथके शैव-मतमें दीक्षित हुए। हालमें ही गोरखनाथके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की लिखी पुस्तक 'कौल-ज्ञान-निर्णय' का प्रकाशन हुआ है, जिसका संपादन डाक्टर प्रबोधचन्द्र बागचीने किया है। इसके अध्ययनसे ऐसा पता चलता है कि मत्स्येन्द्रनाथका सम्बन्ध योगिनी कौलसे था,

---

* अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, और कामावसायित्व—ये अष्टसिद्धियाँ हैं।

जिसकी उत्पत्ति कामरूपसे हुई थी—'कामरूपे इदं शास्त्रं योगिनां हि गृहे-गृहे'। इसी पुस्तकसे यह भी जान पड़ता है कि योगिनी कौलका नाम सत्ययुगमे महाकौल, त्रेतामें सिद्धकौल और द्वापरमें सिद्धामृत था। किवदंतियोसे ऐसा पता चलता है कि गोरखनाथने मत्स्येन्द्रनाथकी योगिनी कौलको परिष्कृत कर पुनः उसे सिद्धामृतका रूप दिया। बात जो भी हो, पर इस विवरणसे इतना तो स्पष्ट जान पड़ता है कि गोरखनाथका संबंध कौलमार्गसे अवश्य था।

'कौल' शब्द 'कुल' शब्दसे बना है। 'कुल'का अर्थ है 'कुण्डलिनी शक्ति' और 'अकुल'का अर्थ है 'शिव'। जो व्यक्ति योग-विद्याके सहारे कुण्डलिनीका उत्थानकर सहस्रारमें स्थित शिवके साथ संयोग करा देता है, उसे ही 'कौल' या 'कुलीच' कहते हैं। कुण्डलिनीके साथ जो आचार किया जाता है, उसे कुलाचार कहते हैं। यह आचार मांस, मद्य, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन है *। इन पंचमकारोंकी साधना कौल-मार्गमें नितांत वाञ्छनीय बतलाया गयी है। +

पंचमकारोंका भी प्रतीकके रूपमें महत्त्व है। पं० बलदेव उपाध्याय ने तांत्रिक ग्रन्थोंसे उद्धरण दे-देकर इन प्रतीकोंका रहस्योद्घाटन किया है।

मद्य—"मद्यका अर्थ यह बाहरी शराब नही है, प्रत्युत ब्रह्मरंध्रमें स्थित जो सहस्रदलकमल है, उससे सुधा क्षरित होती है, उसे ही मद्य कहते है। उसीको पीनेवाला व्यक्ति मद्यप कहलाता है। यह खेचरी मुद्राके द्वारा सिद्ध होता है। इसलिये तंत्रोका कथन है—

---

* 'बौद्ध-दर्शन' (पृ० ४२२)—प० बलदेव उपाध्याय।

+ "मद्य मासञ्च मत्स्यञ्च मुद्रामैथुनमेवच।
मकारपञ्चक देवि देवताप्रीतिकारकम् ॥"
—'श्री कुलार्णवतत्र'।

"व्योमपकज　निस्यन्दमुधापानरतो　नर　।
मधुपायी सम प्रोक्तरित्वरे　मद्यपायिन　॥"
—'कुलार्णव नत्र' ।

"जिह्वया गलसयोगात् पिवेत् तदमृत तदा ।
योगिभि. पीयते तत्तु न मद्य गौडवैष्टिकम् ॥"
—'गन्धर्वतंत्र' ।

मांस—"जो पुरुष पुण्य और पाप-रूपी पशुओको ज्ञान-रूपी खड्गके द्वारा मार डालता है, और अपने मनको ब्रह्ममें लीन करता है, वही मांसाहारी है" । 'कुलार्णव'का कथन है—

"पुण्यापुण्य पशुं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित् ।
परे लय नन्येच्चित्त मासाशी स निगद्यते ॥"

मत्स्य—"शरीरस्थ इड़ा और पिंगला नाड़ियोका नाम गंगा तथा यमुना है । इनमे प्रवाहित होनेवाले श्वास और प्रश्वास दो मत्स्य है । जो साधक प्राणायाम-द्वारा श्वास-प्रश्वास बन्द कर कुम्भकके द्वारा प्राण-वायुको सुषम्नाके भीतर संचालित करता है, वही यथार्थ मत्स्य-साधक है । 'आगमसारका'का कहना है—

"गगायमुनयोर्मध्ये द्वौ मत्स्यौ चरत सदा ।
तौ मत्स्यौ भक्षयेत् यस्तु सभवेन्मत्स्यसाधक ॥"

मुद्रा—"सत्संगके प्रभावसे मुक्ति मिलती है, और असत् संगके प्रभाव से बन्धन प्राप्त होता है । इसी असत् संगके त्यागका नाम मुद्रा है । 'विजयतंत्र'का यही मत है—

"सत्संगेन भवेन्मुक्तिरसत्संगेषु बन्धनम् ।
असत्सगमुद्रण यत्तु तन्मुद्रा परिकीर्तिता ॥"

मैथुन—"मैथुनका अर्थ है 'मिलना' । किसका ? सहस्रारमें स्थित शिवका तथा कुण्डलिनीका, अथवा सुषुम्नाका तथा प्राणका । स्त्री-सहवाससे वीर्यपातके समय जो सुख मिलता है, उससे शतकोटिगुणित

अधिक सुख सुषुम्नामे प्राण-वायुके स्थित होनेसे होता है—

ईडापिगलयो प्राणान् सुषुम्णाया प्रवर्तयेत् ।

सुषुम्णाशक्तिरुद्दिष्टा जीवोऽय तु पर: शिव ।

तयोस्तु सगमे देवै सुरत नामकीर्तनम् ॥" ×

इसी प्रतीक-पद्धतिको ध्यानमें रखते हुए 'मेरुतंत्र' में कहा गया है कि "जो ब्राह्मण परद्रव्यमें अंध-तुल्य है, परस्त्रीके विषयमे नपुंसक है, परनिंदामें मूक, और अपनी इन्द्रियोको वशमें रखनेवाला है, वही इस कुलका अधिकारी है" + । 'कुलकरणतंत्र' के अनुसार साधक सच्चरित्र होना चाहिए; मदिरा और स्त्री उसके लिए वर्जित है। 'महानिर्वाणतंत्र' में तो साफ कहा गया है कि वेश्यागामियो को, और उनको जो कुमारी कन्याओंको बुरी निगाहसे देखते है, राज्यकी ओरसे दंड मिलना चाहिए।

पर गोरखनाथने अपनी आँखोके सामने ही सिद्धोको प्रतीकके साथ खिलवाड़ करते देखा था; इसलिए स्वभावत पंचमकारोके प्रति उनके हृदयमें श्रद्धाका भाव नहीं रह गया। इन्होने खुलकर 'मद्य-मास-मैथुन' के विरोधमें लिखा है ‡, जिससे निवृत्ति पाकर ही योग-मार्ग में

× पचमकारविषयक यह विवरण बलदेव उपाध्यायके 'भारतीय दर्शन' से लिया गया है।

+ "परद्रव्येषु योऽन्धश्च, परस्त्रीषु नपुंसक ।

परापवादे यो मूक:, सर्वदा विजितेन्द्रिय ॥

तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र, वामे स्यादधिकारिता ॥" —'मेरुतत्र'।

‡ "आफू खाय भांगि भसकावै। तामै अकलि कहाँ ते आवै।

चढता पित्त ऊतरता बाई। तातै गोरष भांगि न षाई॥"

—'गोरख-बानी'।

"जोगी होई पर निन्द्या झषै। मद मास अरु भांगि जो भषै।

इकोतरसै पुरिषा नरकहिं जाइ। सति सति भाषत श्री गोरख राइ॥"

—'गोरख-बानी'।

वास्तविक सफलता मिल सकती है। उनकी साधना प्रवृत्तिमूलक नहीं, निवृत्तिमूलक है।

गोरखनाथकी प्रायः सारी-की-सारी रचनायें परंपराभुक्त यौगिक क्रियाओंकी पद्यबद्ध आवृत्ति हैं। गोरखका हठयोग भी कोई उनकी अपनी कल्पना नहीं, बल्कि पतंजलिके राजयोगका ही तांत्रिकोंके संयोगसे नवीन रूपांतर है। गोरखके पहले भी मार्कण्डेय मुनिका हठ-योगीके रूपमें उल्लेख मिलता है÷। परंतु गोरखनाथ और मार्कण्डेयके योगमें थोड़ा-बहुत अन्तर है। गोरख-द्वारा उपदिष्ट योगके छः अंग×

"अवधू मास भषत दया धरमका नास। मद पीवत तहाँ प्राण निरास॥
भागि भषत ग्यान ध्यान षोवत॥ जम दरबारी ते प्राणी रोवंत॥"
—'गोरख-बानी'।

"बामा अगे सोइबा जमचा भोगवा, संगे न पीवणा पाणी।"
—'गोरख-बानी'।

"भग राकसि लो, भग राकसि लो बिण दंता जग षाया लो।
ग्यानी हुता सु ग्यांन मुष रहिया, जीव लोक आपै आप गंवाया लो॥
दिन-दिन बाघिनि सीया लागी, रात्री सरीरै सेषै।
विषै लुवधी तत बूझै, धरि लै बाघनी पोषै॥
चामैं चाम घनता लोई, दिन-दिन छीजै काया।
आपा परचै गुर मुषि न चिन्है, फाड़ि-फाड़ि बाघणी षाया॥
बाघनी उणाया बाघनी निपाया बाघनी पाली काया।
बाघनी डाकरै जोरियौ पापरै, अनमुई गोरष राया॥"—'गोरख-बानी'।

÷ "द्विधा हठ स्यादेकस्तु गोरक्षादिषु साधकः।
अन्यो मृकण्डपुत्राद्यौ साधितो हठसंज्ञकः।"

× "आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्॥"
—'गोरक्षपद्धति'।

बतलाये गये है; पर मार्कण्डेयके विषयमें यह कहा जाता है कि वे अष्टांग योगके समर्थक थे। फिर भी गोरखनाथने प्रकारांतरसे यम-नियमकी महत्ता अपनी रचनाओमें यत्र-तत्र मान ली है, और कहीं-कही तो इनपर अत्यधिक जोर दिया है, क्योंकि इन्हीका तिरस्कार करके सिद्धोने योग-साधनाको कलंकित कर दिया था।

नाथपंथियो की रचनाओको समझनेके लिए योगके पारिभाषिक शब्दोकी पूर्ण प्रतीति अत्यंत आवश्यक है। सच पूछा जाय तो योग अनुभवका विषय है, जिसकी अनुभूति सच्चे गुरुके पथ-निर्देशसे होती है। अध्ययनसे सैद्धांतिक ज्ञान भले हो जाय, पर व्यवहारमें उसकी कोई विशेष उपादेयता नही। यही कारण है कि योगपरक ग्रंथोंमें गुरुकी प्रशंसामें पन्ने-के-पन्ने रँग दिये गये है।

योग क्या है, इसके स्पष्टीकरणके लिए कोशकारोने पैंतीस-चालीस अर्थ तक गिनाये है, पर इन सारे अर्थोका मूल स्वर है—दो पदार्थोंका मिलन या संयोग। योगका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ भी 'संयोग' ही होता है। 'युजिर योगे' धातुके आगे 'कर्तरि घञ्' प्रत्यय लगानेसे व्युत्पन्न होनेवाले 'योग' शब्दका अर्थ 'मेल' है,और 'करणे घञ्' लगाने पर उसका अर्थ 'मिलानेवाला' होता है। इस तरह मिलना भी योग है, और मिलानेवाला भी योग है। अमरकोषमें 'योग सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' कहा है। "पुराण-कालमें जब देश की बोली संस्कृत थी, तब युद्धके लिए योद्धाओको 'सन्नहन' अर्थात् सन्नद्ध हो जाने, कवच पहनने और हथियार उठानेके लिये 'योगो योग' ऐसी पुकार होती थी। 'उपाय'को भी 'योग' कहते है। वैद्यकके नुस्खको भी 'योग' कहते है—'इत्यें योगः', 'इति द्वितीयो योग', अर्थात् रोगको दूर करनेका उपाय। यहाँ भी 'योग' संयोग के ही अर्थमे व्यवहृत हुआ है— कही इष्टफल साधनेके लिए विविध कारणो और करणोका संयोग, और कही, औषधियोंमें कई जड़ी बूटियोंका संयोग।" पर रूढ़ अर्थमें पतंजलिके अष्टाङ्ग योगका ही ग्रहण

'योग'के द्वारा होता है ।

सिद्धो, नाथपंथियों और निर्गुणियोंका पतंजलिके राजयोगसे उतना सीधा संबंध नहीं दिखलाई देता, जितना उसीके नवीन रूपांतरित स्वरूप हठयोगसे । पर इसका भी पर्यवसान राजयोगमें होता है । हठयोग साधन है, साध्य नहीं । राजयोग ही सच्चे योगियोंका अभीष्ट है, जिसका गंतव्य है असंप्रज्ञात समाधि । असंप्रज्ञात समाधिके दो भेद होते है—भाव प्रत्यय और उपाय प्रत्यय । भाव प्रत्ययमें भी चित्तवृत्तिका निरोध होता है और उपाय प्रत्ययमें भी, लेकिन जहाँ एकमें वास्तविक ज्ञानोपलब्धि नहीं होती, वहां दूसरेमे प्रज्ञा अर्थात् शुद्ध ज्ञानका उदय होता है । इसलिए भाव-प्रत्ययको जड़-समाधि कहते है, और उपाय प्रत्ययको कैवल्यावस्था । संतोने उपायप्रत्ययमूलक असंप्रज्ञात समाधिको ही अभीष्ट माना है ।

पर हठयोग का भी अपनी जगह पर महत्त्व है । इसका संबंध विशेषतः शरीरकी स्थूल क्रियाओसे रहा करता है; पर स्थूलका प्रभाव सूक्ष्म पर पड़ेगा ही, ऐसा हठयोगियोंका विश्वास है । "सूक्ष्म शरीरके भावके अनुरूप ही स्थूल शरीरका संगठन होता है, तथा सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर एक संबंधयुक्त होकर रहते है; तब इसमें क्या बाधा है कि स्थूल शरीरके कार्यो-द्वारा सूक्ष्म शरीर पर आधिपत्य नहीं किया जा सकता ?'* इसलिए अगर यह कहा जाय कि हठयोग राजयोग की पहली सीढ़ी है तो अत्युक्ति न होगी ।

डा० रामकुमार वर्माने 'हठयोग' का अर्थ बलपूर्वक ईश्वरसे मिलना बतलाया है, † पर 'गोरक्ष-पद्धति', 'हठयोग-प्रदीपिका' आदि पुस्तकोमें चन्द्रमा और सूर्यका मिलन ही 'हठयोग' कहा गया है । 'ह'का अर्थ है सूर्य, और 'ठ'का अर्थ है चन्द्रमा । इड़ाको चन्द्रमा और पिंगलाको सूर्य

---

* 'कल्याण'— साधनाङ्क ।

† 'कबीरका रहस्यवाद' (पृ० ६०) : डा० रामकुमार वर्मा ।

कहा जाता है। इनका मिलन तभी सम्भव है, जब यौगिक क्रियाओसे सुषुप्त कुण्डलिनी शक्तिको उद्बुद्ध किया जाय। इसलिए हठयोगको 'कुण्डलिनी-योग' भी कहते हैं।

"कुण्डलिनी शक्ति वैदिक सिद्धांतानुसार नही है, तथा वेदानुकूल दर्शन शास्त्रोंमें इसका ग्रहण नहीं हुआ है। अधिक क्या, पातंजल योग-शास्त्रमे कुण्डलिनी अथवा षट्चक्र आदिमें किसी एकका भी उल्लेख नहीं है। बौद्ध तथा जैनादि ग्रंथोमें भी स्पष्ट रूपसे कुण्डलिनीकी कोई आलोचना नहीं है। यह तंत्र-शास्त्र का अंतरंग विषय है" †। सिद्धोने बौद्धतंत्र से और नाथपंथियोने शाक्त-तंत्रसे कुण्डलिनी-योग और उसकी सारी प्रक्रियायोको ज्यो-का-त्यों अपने साहित्यमे ले लिया है।

समष्टिमें परिव्याप्त महाकुण्डलिनी शक्ति ही व्यष्टिमे कुण्डलिनी शक्ति कहलाती है, जो जाग्रत, सुषुप्ति या स्वप्नकी अवस्थामें निश्चेष्ट रहती है; पर यौगिक क्रियाओंसे उसे जगाकर ऊर्ध्वमुखी किया जाता है। इसे उद्बुद्ध करनेमे प्राणायाम विशेष सहायक होता है, पर इसके भी पूर्व यम, नियम और षट्कर्मसे * निवृत्त होकर आसनका अभ्यास करना चाहिये। आसनोंकी संख्या चौरासी लाख योनियोकी तरह चौरासी लाख बतलायी गयी है, पर केवल योगीश्वर ही इन सबके ज्ञाता हैं। योग

---

† 'कुण्डलिनी शक्ति'—'द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ' (पृ० १७१)
—म० म० प० गोपीनाथ कविराज।

* "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा"—'योग-दर्शन', २।३०।
"शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिध्यानानि नियमाः"।
—'योग-दर्शन', २।३२।

"धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिर्लौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि समाचरेत् ॥"

शास्त्रमें तो केवल चौरासी आसनोका निर्देश है, जिसमें 'गोरक्षपद्धति' के अनुसार सिद्धासन और ब्रह्मासन ही प्रमुख है * । 'शिव-संहिता' के अनुसार भी आसन चौरासी ही है; पर उनमें चार मुख्य माने गये हैं— सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन और स्वरितकासन । पद्मासन इनमें सर्वश्रेष्ठ है । इसका अभ्यास योगियोके लिये अभीष्ट है ।

प्राणायामके पहले नाड़ी- शुद्धि भी योग-शास्त्रमें आवश्यक बतलायी गयी है । 'गोरक्ष-पद्धति' और 'हठयोग-प्रदीपिका' के अनुसार शरीरमें बहत्तर हजार नाड़ियाँ है, जिनमें बहत्तर ही मुख्य है, और बहत्तर में इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलंबुषा कुहू और शंखिनी, ये दस नाड़ियाँ प्रधान है । पुनः इनमें भी इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा सर्वप्रधान है × । लेकिन सिद्धिके लिये इड़ा और पिंगलाकी अपेक्षा सुषुम्णाका महत्त्व अधिक है । सुषुम्णाके भीतर वज्रानाड़ी, इसके भीतर चित्रिनी नाड़ी, और इसके भीतर सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर ब्रह्मनाड़ी है, जिससे

---

* "आसनानि च तावन्ति यावन्तो जीवजन्तव ।
एतेषामखिलान् भेदान् विजानाति महेश्वर. ॥
चतुरशीतिलक्षाणामेकैकं समुदाहृतम् ।
तत. शिवेन पीठानां षोडशोन शत कृतम् ॥
आसनेभ्य. समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम् ।
एक सिद्धासनं प्रोक्त द्वितीयं कमलासमम् ॥"— गोरक्षपद्धति' ।

× "द्वासप्तति सहस्राणि नाडी द्वारणि पजरे' ।
तेषु नाड़ीसहस्रेषु द्विसप्तसिरुदाहृता. ।
प्रधाना. प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृता ॥
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥
अलम्बुषा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ।
एतन्नाडीमयं चक्र ज्ञातव्यं योगिभि सदा ॥" 'हठयोग-प्रदीपिका' ।

होकर कुण्डलिनी शक्ति सहस्रारमे गमन करती है। नाभिके ऊपर शरीरके मध्यभागमें कंदका स्थान है, जिसकी आकृति कुक्कुटके अंडेके समान है। शरीरकी सभी नाड़ियोका उत्पत्ति-स्थान यही है *। यहींसे नाड़ियाँ भिन्न-भिन्न दिशाओंकी ओर जाती है। नासिकाके वाम भागमें इड़ा, दक्षिण भागमें पिंगला और मध्य भागमे सुषुम्णा नाडी है। सुषुम्णा नाड़ी ही सिद्धि देनेवाली है †। सुषुम्णाको अग्नि नाड़ी भी कहते हैं। 'वज्रकुलपिटक' मे इन्हे ही ललना, रसना और अवधूती कहा गया है। गंगा, यमुना और सरस्वती इन्हींकी दूसरी संज्ञा है ×। इन्हे वशमें करनेसे प्राणायाम सुलभ हो जाता है।

श्वास-निरोधको प्राणायाम कहते है। इसकी तीन अवस्थाये हैं—पूरक, रेचक और कुम्भक। पूरक में श्वास लिया जाता है, रेचकमे श्वास छोड़ा जाता है, और कुम्भकमे उसे भीतर रखते हैं। श्वास और प्रश्वास, इन दोनोकी गतिके बंद कर देने को प्राणायाम कहते हैं। जब तक श्वास-प्रश्वास चलते रहते हैं, तब तक चित्त स्थिर नही रहता; और चित्त के चंचल रहनेसे योगमे सिद्धि नही मिलती। उपनिषद्के अनुसार पूरकका ध्यान महावीरमें करना चाहिये, जिसके चार हाथ होते है (विष्णु), कुंभकका ध्यान हृदयमें और रेचकका ललाटमें, जहाँ रुद्रकी मूर्ति है। तब कही जाकर प्राणायामके साधनेमे सुगमता हुआ करती है।

---

* "अस्ति नाभेरध कंदो देहमध्यगत सदा।
कुक्कुटाण्डसमाकार सर्वनाडीसमाश्रय.॥"
—'योगरसायनम्'।

† "इडा वामे स्थिता नित्य पिंगला दक्षिणे तथा।
सुषुम्णा मध्यगा ज्ञेया योगसिद्धिप्रदायनी॥"
—'योगरसायनम्'।

× "इडा भोगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्णा च सरस्वती॥"

पर इसके निमित्त केवल नाड़ी-ज्ञान ही अपेक्षित नहीं, बल्कि प्राण, वायु और मुद्रा पर भी अधिकार करना चाहिए। पंचप्राण मुख्य माने गये हैं— प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। पंच प्राणोंके ही आधार पर पंच वायु हैं— प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। मुद्रायें भी पाँच प्रसिद्ध हैं—महामुद्रा, खेचरी मुद्रा, उड्डीयान बंध, जालंधर बंध और मलबंध। खेचरी मुद्रा सभी मुद्राओंमें श्रेष्ठ मानी गयी है। इनमें सिद्ध होते ही धारणा, ध्यान और समाधिके सहयोगसे कुण्डलिनी शक्ति स्वयमेव उद्बुद्ध हो जाती है।

कंद के ऊपरके भागमें कुण्डलिनी शक्तिका स्थान है, जो साढ़े तीन वलयोंके आकारवाले सर्पके समान कुण्डलाकार है *। जिस मार्गसे योगी अपने प्राणको मस्तकमें ले जाते हैं, उसके द्वारको अपने मुखसे रोककर वह सो रही है †। यही कुण्डलिनी सुषुप्तावस्थामें मूर्ख जनों को जन्म-मरणके बंधनमें डालती है, पर योगाभ्यासी इसीको उद्बुद्ध कर जन्म-मरणके बंधनसे मुक्ति पाता है। ×

कुण्डलिनी शक्तिके ऊर्ध्वमुखी होते ही स्फोट होता है, जिसे 'नाद' कहते हैं। शब्द तो पिंड और ब्रह्माण्डमें सदा होता रहता है, पर अज्ञानवश हम इसकी अनुभूति नहीं कर पाते। कुण्डलिनी शक्तिके उद्बुद्ध होते ही साधक इसका अनुभव करता है। योग-शास्त्रमें इसे ही 'अनाहत

---

* "कंदोर्ध्वगता नित्य शक्ति· कुंडलिनी परा।
साद्धत्रिवलयाकारा ससुप्तभुजगोपमा' ॥"
—'योगरसायनम्'।

† "येन मार्गेण गच्छन्ति प्राणा मूर्द्धनि योगिनः।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं सुप्ता सा नागकन्यका ॥"
—'योगरसायनम्'।

× 'बन्धनाय च मूढाना यस्ता वेत्ति स वेदवित्'
—'गोरक्ष-पद्धति'।

नाद' कहते हैं। पिथागोरसने इसे Music of the sphere कहा है।उनके शब्दोंमें "सृष्टि संगीतमयी है। अनंत आकाशको पूर्ण करके एक अनादि संगीत अविश्रान्त उत्थित होता रहता है। रवि-चंद्र-तारा इस शाश्वत संगीतके द्वंद्वतालमें नृत्य करते हुए सृष्टिक्रमको चला रहे हैं। हमारी जीवन-तंत्री जब इस सुमहान् संगीतके साथ समसुरसे मन्द्रित हो उठेगी, तभी हम अपने जीवनमें सपूर्ण सार्थकता प्राप्त करेंगे।" इस तरह पिथागोरस-द्वारा प्रतिपादित पृथ्वीके सगीत, और योगशास्त्र-द्वारा प्रतिपादित अनाहत नादमे बहुत सादृश्य है। 'हठयोग-प्रदीपिका' मे दस प्रकारके अनाहत नादका उल्लेख है।*

कुण्डलिनी शक्ति जाग्रतावस्थामें अमृतका रसास्वादन करती है, पर सुषुप्तावस्थामे सूर्यके द्वारा उस अमृतका शोषण हो जाता है। अमृत-प्राप्तिके लिए कुण्डलिनीको इड़ा-पिङ्गलाके मध्यस्थित सुषुम्णाके भीतर सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर ब्रह्मनाड़ीसे होते हुए षट्चक्रों† को पार करते हुए ब्रह्मरंध्रतक एक लम्बी यात्रा करनी पड़ती है, जहाँ पहुँचकर वह

---

* "आदौ जलधि-जीमूत-भेरी-झर्झरसभवाः।
मध्ये मर्द्दल-शखोत्था घटा काहलजास्तथा॥
अतेतु किंकिणी-वशी-वीणा-भ्रमर नि स्वना।
इति नानाविद्या नादा श्रूयते देहमध्यगा.॥"
—'हठयोग-प्रदीपिका'।

† गुह्यस्थलमे मूलाधार चक्र चतुर्दलयुक्त, हृदयमे अनाहत चक्र द्वादशदलयुक्त, लिंग-मूलमे स्वाधिष्ठान चक्र षट्दलयुक्त, कठदेशमे विशुद्ध चक्र षोडशदल युक्त, नाभिमडलमे मणिपूर चक्र दशदल युक्त और भ्रूमध्यमें आज्ञा चक्र द्विदलयुक्त।

'शिव-संहिता', 'हठयोग-प्रदीपिका', तथा 'गोरक्ष-पद्धति'मे षट्चक्रका उल्लेख है, पर अन्य तान्त्रिक ग्रथोमे नव चक्रोका वर्णन है—मूलाधार,

परम शिवसे मिल जाती है। उसी समय ब्रह्मरंध्रमें सुधा-वर्षा होती है जिसे पीकर योगी अजर-अमर हो जाता है। इस अवस्थाको उन्मनावस्था कहते हैं।

योगकी विवेचनाके प्रसगमें अजपा जापकी चर्चा संतसाहित्यके अध्ययनके लिये नितान्त आवश्यक है। अजपा जापकी भी प्रक्रिया योग में ही पूर्णतः अनुस्यूत है। यह सुरति-शब्द-योगका अंतरंग विषय है। जापकी तीन अवस्थायें निर्धारितकी गयी है—जाप, अजपा जाप और अनाहत। जापमें केवल ब्रह्मकी रटना मात्र रहती है, और उसका हृदय से गहरा संपर्क नहीं रहता। अजपामें यही वहिर्मुखी प्रवृति अन्तर्मुखी हो जाती है, और उस समय साधकका प्रत्येक श्वास ब्रह्मका ही ध्यान किया करता है। मनुष्य प्रतिदिन २१६०० बार साँस लेता है। तदनुसार

स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, तालु, ब्रह्मरंध्र और सहस्रार।

सत-मतमें सहस्रारके ऊपर भी 'सुरति-कमल' की कल्पना की गयी है। सुरतिकमल तक पहुँचा हुआ योगी समाधि टूटने परभी विषय-भोग तथा इन्द्रिय-लिप्साका शिकार नही होता। प्रत्येक चक्रमे किसी-न-किसी देवताका निवास माना गया है। गरीबदासकी निम्नलिखित पक्तियोसे यह स्पष्ट हो जायेगा—

> 'मूल चक्र गनेस वासा रक्त वरन जहँ जानिये।
> क्लिंग जाप कुलीन तज सब सब्द हमरा मानिये॥'
> 'स्वाद चक्र ब्रह्मादि वासा जहँ सावित्री ब्रह्मा रहै।
> ओं जाप जपत हंसा ज्ञान जोग सतगुरु कहै॥'
> 'नाभि कमलमें विस्नु विसंभर जहँ लक्ष्मी सँग वास है।
> हंग जाप जपंत हंसा जानत बिरला दास है॥'

२१६०० बार ही अजपाजापमे 'सोऽहं हंसा'की आवृत्ति समझनी चाहिये। काठकी माला फेरनेकी अपेक्षा श्वासकी माला फेरना अधिक कल्याण-प्रद है। इसलिये साधक लोग सभी श्वासोंका सुमिरन किया करते हैं, और शयन-कालमें इसका भार भगवान् पर छोड़ देते हैं। अजपा जापकी ही चरम पराकाष्ठा अनाहत नाद है। सच पूछा जाय तो अजपाजाप सुरति-शब्द-योग से ही संबंध रखता है। 'सुरति'में 'रति' शब्द प्रमुख है। साधारणतः 'रति' प्रवृत्तिको कहते हैं। इसलिये सुरतिका अर्थ हुआ—मूल-स्वरूप में प्रवृत्ति। और संतोंके लिये मूल 'सोऽहं' के अतिरिक्त और क्या हो सकता है! वस्तुतः हम ब्रह्म है, लेकिन अज्ञानके कारण हमारी स्मृति से यही सत्य जाता रहा है। ज्योतिके ऊपर धूमिल परते पड़ गयी हैं, जिनका भेद सुरति-द्वारा ही संभव है। जब तक अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश, और आनंदमय कोशके पर्दे आत्माके ऊपर पड़े रहते हैं, तब तक मूल स्वरूपकी उपलब्धि नहीं हो सकती। सुरति इन आवरणोंको चीरती हुई मूल तक पहुँच जाती है। दूसरे शब्दोंमे कह सकते है कि सुरति अज्ञानांधकार मे भूले हुए आत्मस्वरूपका ही

'हृदय कमल महादेव देव सती पारबती सग है।
सोह जाप जपंत हसा ज्ञान जोग भल रग है॥'
'कठ कमलमे बसै अबिद्या ज्ञान ध्यान बुधि नासही।
लील चक्र मध काल कर्म आवत कूँ फाँसही॥'
'त्रिकुटी कमल परमहस पूरन सतगुरु समरथ आप है।
मन पौना सम सिध मेलो सुरत निरतका जाप है॥'
'सहस्रदल कमल आप साहब ज्यूँ फूलन महँ गध है।
पूर रहा जगदीश जोगी सत समरथ निरबध है॥'

——'गरीबदासजी की बानी'।

स्मरण है। इसलिये सुरतिको अगर स्मृतिका पर्यायवाची कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी, पर स्मृतिके पूर्व मायावी संसारमें सभी इन्द्रियों की निवृत्ति आवश्यक है। इस प्रक्रियाको 'निरति' कहते हैं। निरतिके साधते ही समस्त इन्द्रियाँ बहिर्मुखीसे अंतर्मुखी हो जाती हैं।

इसीको संतोंने 'दृष्टिका उलटना' कहा है †। दृष्टिको उलटनेके बाद शब्द अर्थात् नाम-सुमिरनकी डोरी पकड़ कर अनाहत नाद तक पहुँचना चाहिये। इस प्रक्रियासे जिसका परिचय हो चुका है, वह सहज ही, बिना यौगिक क्रियाओंके 'अनहद ढोल', सुन सकता है। इसे कतिपय आलोचक 'सहजयोग' भी कहते हैं, क्योंकि इसका संबंध हठयोग ऐसी कृच्छ्र-साधना से नहीं रहा करता।

गोरखनाथ और अन्यान्य नाथपंथियोंकी रचनाओंमें हठयोग भी मिलेगा और सहजयोग भी, पर प्रधानता साधनात्मक हठयोगकी है। डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वालके द्वारा संग्रहीत 'गोरख-बानी' की अधिक रचनायें यौगिक क्रियाओंसे ही सम्बन्ध रखती हैं। वहाँ प्राणायाम भी है, कुण्डलिनी-योग भी है, वायु-साधना भी है, मुद्रा-साधना भी है, अजपा जाप भी है, शब्दोपासना भी है। साधनात्मक हठयोगसे सम्बन्धित जो विधियाँ हैं, वे सभी वहाँ मिलेंगी—उदाहरणार्थ, षट्कर्मकी विधि, योग-सिद्धिके लिए ब्रह्मचर्यका पालन, साधकके लिए आहार-निद्राका परहेज आदि।

---

† "है दिलमें दिलदार सही, अँखिया उलटी करि ताहि चितइये"।
—'सुंदर-विलास'।

"दृष्टि उलटि लागो रहै सोहं ठाकुर भूप"—गुलाल।

"नयनन से देख उलटि ठाकुर दवारा"—'भीखा'।

"जो कुछ इन नयनन लखि आई। सो सब माया लखब कहाई॥
दिव्य दृष्टि करि उलटि समाई। लखै अलेख लखै तिन पाई॥"
—गुलाल।

"उठत पवना रवी तपंगा, बैठंत पवनां चंद ।
दहूँ निरंतरि जोगी बिलवै, बिंद बसै तहाँ ज्यद ॥"

—'गोरख-बानी' ।

"अवधू ईडा मारग चंद्र भणीजै, प्यंगुला मारग भानं ।
सुषमना मारग बाणी बोलिये, त्रिय मूल अस्थान ॥"

—'गोरख-बानी' ।

"गिगनि मडल मे गाय बियाई, कागद दही जमाया ।
छाछ छाणि पिंडवा पीवी, सिधा माषण षाया ॥"

—'गोरख-बानी' ।

"उलटिया पवन षट्-चक्र बेधिया, तातै लोहै सोषिया पाणी ।
चद सूर दोऊ निज घरि राठया, ऐसा अलष बिनाणी ॥"
"बजरी करता अमरी राषै, अमरि करता बाई ।
भोग करता जे ब्यंद राषै, ते गोरषका गुरु भाई ॥"

—'गोरख-बानी' ।

"पवन ही जोग पवन हो भोग । पवन ही हरै छतीसौ रोग ।
या पवनका कोई जाणै भेव । सो आपै करता आपै देव ॥"

—'गोरख-बानी' ।

"अवधू नव घाटी रोकि लै बाट । बाई बणिजै चौसठि हाट ।
काया पलटै अविचल बिध । छाया बिब रचित निपजै सिद्ध ॥
सबदहि ताला सबदहि कूजी, सबदहि सबद जगाया ।
सबदहि सबद सू परचा हुआ, सबदहि सबद समाया ॥"

—'गोरख-बानी' ।

"अजपै जपै सुंनि मन धरै, पांचौ इन्द्री निग्रह करै ।
ब्रह्म अगनि मैं होमै काया, तास महादेव बंदै पाया ॥"

—'गोरख-बानी' ।

"अति आहार चद्री वल करै। नासै ग्यान मैथुन चित्त वरै।।
व्यापै न्यद्रा भपै काल। ताके हिरदय सदा जजाल।।"

—'गोरख-वानी'।

'थोडे खाइ तो कल्पै भल्पै, वणो खाइ तो रोगी।
दहू दषा की सधि विचारै, ते को विरला जागी।।"

—जालधरनाथ।

लेकिन कुछ स्थलोपर गोरखने योगके बाह्य विधानोकी निन्दा भी की है, और आत्म-ज्ञानको ही श्रेष्ठ वतलाया है। उन्हींके शब्दोमें—

"आसण वैसिव पवन निरोधिवा, थान मान सव धधा।
वदत गोरखनाथ आतमा विचारत, ज्यू जल दीसै चदा।।"

—'गोरख-वानी'।

उन्होने कहा है कि शरीरमें इतनी नाड़ियाँ है, इतने कोठे है, यह है, वह है, ऐसा अष्टाङ्ग-योग सर्वथा भूठा है—

'नव नाडी वहोत्तरी कोठा, ए अष्टाग सव भूठा'।

गोरखने ज्ञानियोको संबोधित करते हुए कहा है—'हे खंडित ज्ञानियो ! तुम बाहरी बातोसे युद्ध करते हुए क्यो पच मरते हो। वह परमपद इनसे भिन्न है। आसन और प्राणायाम केवल उपद्रव किया करते है। रात-दिन पच मरने पर भी इनके द्वारा आरंभिक अवस्थासे आगे नहीं बढ़ा जा सकता'।

"षण्डित ग्याँन मरौ क्या भूझि। औरौ लेहु परमपद वूझि।
आसण पवन उपद्रह करै। निसि दिन आरम्भ पचि-पचि मरै।।"

—'गोरख-वानी'।

पर इतना होते हुए भी प्रधानतः आसन और प्राणायामका समर्थन किया गया है, और अष्टाङ्ग-योगकी विधि अनुकरणीय मानी गयी है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि हठयोगकी क्रियाओकी भी अपनी जगह महत्ता है; पर साधनकी दृष्टिसे, साध्यकी दृष्टिसे नहीं। गोरखने

साध्य आत्म-ज्ञानको ही माना है। आत्म-ज्ञान क्या है?—द्वैत-भावना का अद्वैतभावमे तिरोभाव। अर्थात् स्वजातीय, विजातीय और स्वगत भेदोंसे सर्वथा विच्छिन्न होकर जीवात्माका परमात्मासे पूर्णरूपेण योग—कैवल्यावस्था—जिस अवस्थामे न निरति है, न सुरति; न योग है, न भोग; न जरा है, न मृत्यु है, न रोग; न वाणी है, और न ॐकार।

"निरति सुरति जोग न भोग, जुरा मरण नही तहाँ रोग।
गोरष बोलै एककार, नहि तहँ बाचा ओअंकार ॥"
'गोरख-बानी'।

नाथ-पंथकी उपर्युक्त योग-परंपरा संत-साहित्यमें ज्यो-की-त्यो ले ली गयी, लेकिन आगे चलकर उसमे भी सुधार हुआ।

प्राय सारे-के-सारे निर्गुण-कवियोने योगपरक सिद्धान्तोंको अपने काव्यमे समादृत किया है; पर कुछने तो इसकी महत्ता आदिसे अन्त तक मानी है, और कुछने बाद जाकर इसके बाह्य विधानोंकी निस्सारता का अनुभव कर इसका भी प्रत्याख्यान कर दिया है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे देखने पर संत-साहित्यमे सर्वप्रथम नामदेवकी रचनाये हमारे सामने आती है, जिनका जन्म-समय सं० १३२७ बताया जाता है। इधर कुछ विद्वानोने संतकाव्यकी परंपराका प्रारंभ जयदेवसे माना है। सिखोके गुरु अर्जुन-द्वारा संग्रहीत 'ग्रंथ साहब' से जयदेवके दो पद मिले है, जो संस्कृतमें न होकर भाषामें है। इनकी भाषा अपभ्रंशके भी बादकी जान पडती है। इन दो पदोमें से एक पद* योग

* "चदसतभेदिआ नादसतपूरिआ सूरसत खोडसादतु कीआ।
अबलबलु तोडिआ अचलचलुथपिआ। अघडघडिआ तहा अपिउपीआ ॥
मनआदिगुण आदि वखाणिआ, तेरी दुविधाद्रिसटि समानिआ।
अरधिकउ अरधिया सरधिकउसरधिआ आसललकउसललि समानिआइआ ॥

से संबंधित हैं, जिसे देखकर ही लोग संत-साहित्यका प्रारंभ जयदेवसे मान लेते हैं। श्री रामसिंह तोमरने दूसरे पदके विषयमें तो कहा हैं कि यह जयदेवका हो सकता है, पर इसके विषयमें उनकी सम्मति है कि यह किसी अन्य जयदेव-द्वारा निर्मित होगा †। डा० रामकुमार वर्माने भी अपने इतिहासमें यह पद उद्धृत किया है, पर इसकी प्रामाणिकताको लेकर कोई वाद-विवाद नहीं उठाया। इतना अवश्य निर्देश कर दिया है कि 'इस पदमें न तो जयदेवका भाषा-माधुर्य है और न भाव-सौंदर्य।' इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह किसी अन्य जयदेवकी रचना रही होगी, जिसका रचना-काल पूर्ववर्त्ती जयदेवके बहुत बाद रहा होगा। पर कबीरके पहले उसका समय निर्धारित करनेमें तर्क-वितर्क नहीं होना चाहिये, क्योंकि उन्होंने 'जैदेउ' नामके किसी संत-कविका उल्लेख किया है—

'गुरु प्रसादी जैदेउ नामा।
भगति कै प्रेमि इनहि है जाना' ॥

—कबीर।

यही निर्णय मान्य भी है। जयदेव-कृत 'गीतगोविंद' को देखते हुए उनके द्वारा योगपरक कविताकी रचना असंभव हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि जयदेव नामदेवके भी पहले हुए या नहीं। यह विवादग्रस्त विषय है, और प्रमाणके अभावमें अंतिम निष्कर्षकी भी संभावना नहीं। नामदेव पहले सगुणोपासक थे, लेकिन बाद जाकर निर्गुणकी ओर उनकी प्रवृत्ति हो गयी। फिर भी एक

वदति जैदेउ जैदेव कउरंमि आव्रहमु निरवाणु लिवलीणु पायिआ ॥"

—'श्री गुरुग्रंथसाहिब'।

† 'जयदेव और उनकी दो भाषा-कवितायें'—रामसिंह तोमर —('पारिजात'—सख्या ३, मई १९४८)।

बार सगुणकी ओर वृत्ति रमनेके कारण इनके बहुतेरे संस्कार ऐसे बचे रह गये थे, जिनके कारण निर्गुणसंतवादियोंकी समस्त विचार-धाराको वे आत्मसात् नहीं कर सके। उनके लिये साधनात्मक योगको पचा पाना एक दुस्तर कार्य था, इसलिये तीर्थ-व्रत, दान, यज्ञादि की तरह योगको भी उन्होने बाह्याडंबर कहकर टाल दिया है। नामदेव का कहना है--

"जोग जग्य ते कहाँ सरै तीरथ व्रत दाना।
कोटि गऊ जो दान दे नहि नाम समाना।
ओसै प्यास न भागिहै, भजियें भगवाना॥
एकै मन एकै दासा, एकै व्रत धरिये।
नामदेव नाम जहाज है, भवसागर तरिये॥"

नामदेवके बाद त्रिलोचन, सदन, बेनी और रामानंदका महत्त्व है। बेनीकी रचनाओंमें हठयोगकी अध्यात्म-शिक्षा प्रधान है।

रामानंदके दो-एक पद आदिग्रंथमें संग्रहीत है, पर उन्हे देखकर यह सहज ही नहीं कहा जा सकता कि वे योग पर आस्था रखते थे या अनास्था। उनका एक पद अवश्य हनुमानके विनयसे संबंध रखता है, जिनके व्यक्तित्वमें योग और वैष्णव-भावनाका समन्वय है। उनके गुरु राघवानन्दकी पुस्तक 'सिद्धांत पंचमात्र' रामानुजी हनुमान मंदिरमें मिली है, जिसका प्रतिपाद्य विषय योग और प्रेम है। ऐसी किंवदती भी प्रचलित है कि राघवानंदने अपनी योग विद्याके बलसे अपने प्रिय शिष्य रामानंदको मृत्यु-मुखसे बचाया था, जिसका उल्लेख डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वालने अपनी पुस्तक 'योग-प्रवाह' में किया है। इससे केवल यह अनुमान लगाया जा सकता है कि रामानंदको भी अपने गुरुकी ही तरह योग पर आस्था रही होगी। डा० बड़थ्वालने उसी पुस्तकमें यह भी लिखा है कि "महाराष्ट्री जनश्रुतियोंके अनुसार रामानंद का संबंध ज्ञानदेवके नाथपंथी परिवारके साथ जोड़ा जाता है"। और

नाथ-पंथ निस्सन्देह योग-मार्गसे सबद्ध है। इस तरह भी रामानंद पर योगका प्रभाव मानना चाहिये।

रामानंदके प्रधान शिष्योंमें कितने ही संत-कवि हुए हैं जिनमें पीपा, सेना, धन्ना, रैदास और कबीर विशेष उल्लेखनीय हैं। कबीर की प्रारंभिक रचनाओंमें योगपरक समस्त साधनात्मक प्रक्रियाको अभिव्यक्ति दी गयी है, पर बाद जाकर वे इसे बुरा बतलाने लगे हैं। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदीने 'कबीर' में यह प्रमाणित किया है कि कबीर जिस कुलमें पैदा हुए थे, उसमें योग-साधना पहलेसे ही प्रचलित थी, लेकिन आचरणभ्रष्ट योगी होनेके कारण उन्हें समाजसे निष्कासन दे दिया गया था। इसी संस्कारजन्य प्रभावके कारण कबीर की प्रारंभिक रचनाओंमें यौगिक क्रियाओंका बाहुल्य है। लेकिन कबीरका व्यक्तित्व ऐसा है कि जिसे एक बार त्याज्य समझ लिया, उसे पहले चाहे कितना भी प्यार क्यों न किया हो, सहज ही उसी तरह छोड़ दिया है, जैसे तूफानके थपेड़े पर थपेड़े खाकर जमीन पेड़की जड़ोंको छोड़ देती है। योगसे कबीरका संबंध-विच्छेद इसी तरह होता है। इसके बाद कबीर चुप्पी नहीं साध लेते, बल्कि योगके विरोधमें बहुत-कुछ लिखते हैं; और इस हदतक लिखते हैं कि दुनिया जान जाय—देखो, मैंने पहले योगकी प्रशंसामें जो कुछ भी लिखा था, वह निस्सार था, उसके चंगुलसे मत आना। मैं उस समय स्वयं मूढ़ था, अज्ञानी था। आज कितने ऐसे विद्वान् हैं जो अपने अनुभूत सत्यको इस तरह जनताके बीच प्रगट करते हों। बहुतोंको तो ऐसा भी देखा गया है कि अपने पूर्ववर्त्ती सिद्धान्तोंकी निस्सारताका स्वयं अनुभव करके भी उसे वाणी देनेमें हिचकते हैं कि कहीं उनकी इज्जतमें बट्टा न लग जाय, लोग उन्हें अध-कचरे न समझने लगें। पर कबीरका दिल साफ था। उन्होंने पहले योगके समर्थनमें भी लिखा, और बादमें उसका विरोध भी किया, जो निम्नलिखित पदोंसे स्पष्ट हो जायगा—

योग का समर्थन.—

"गगन की ओर निसाना है।
दहिने सूर चन्द्रमा बाये, तिनके बीच छिपाना है॥
तनकी कमान सुरतका रोदा, सबद-बान ले ताना है।
मारा बान बेधा तन ही तन, सतगुरुका परवाना है॥
मार्‌यो बान घाव नहि तनमे, जिन लागा तिन जाना है।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, जिन जाना तिन माना है॥"

× × ×

"उलटत पवन चक्र खटु भेदे सुरति सुन अनुरागी।
आवै न जाइ मरै न जीवै तासु खोजु बैरागी॥
मेरे मन ही मन उलटि समाना।
गुरु परसादि अकलि भइ अवरै ना तरु था बेगाना।
निवरै दूरि दूरि फुनि निवरै जिन जैसा करि मानिया।
अलउतीका जैसे भइया बरेडा जिनि पीआ तिनि जानिआ॥
तेरी निरगुन कथा काइ सिउ कहिऔ ऐसा कोई बैरागी।
कहु कबीर जिनि दीआ पलीता तिनि तैसी झल देखी॥"

× × ×

"रस गगन गुफामे अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ, समुझि परै जब ध्यान धरै।
बिना ताल जहँ कमल फुलानै, तेहि चढि हंसा केलि करै॥
बिन चंदा उँजियारी दरसै, जहँ तहँ हंसा नजर परै।
दसवे द्वारै ताली लागी, अलख पुरुष जाको ध्यान धरै।
काल कराल निकट नही आवै, काम-क्रोध-मद-लोभ जरै॥
जुगन-जुगन की तृस्ना बुझानी, कर्म-मर्म-अघ व्याधि टरै।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो अमर होय कबहूँ न मरै॥"

× × ×

"धोती नेती वस्ती पावो, आसन पदम जुगत से लावो।
कुंभक कर रेचक करवाओ, पहले मूल सुधार कार्य हो न्यारा है ॥"

× × ×

साधनात्मक योगका विरोधः—

"जोगी पड़े वियोग, कहै घर दूर है।
पासहि वसत हुजूर, तू चढ़त खजूर है।"

× × ×

"मन ना रँगाये, रँगाये जोगी कपड़ा।
आसन मारि मंदिर में बैठे, ब्रह्म छाड़ि पूजन लागे पथरा ॥
कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौले, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले, काम जराय जोगी होय गैले हिजरा ॥
मथवा मुँड़ाय जोगी कपड़ा रंगौले, गीता बाँच के होय गैले लबरा।
कहहिं कबीर सुनो भाई साधो, जम दरवाजा बाँधल जैबे पकड़ा ॥"

× × ×

"संतो सहज समाधि भली।
साईं ते मिलन भयो जा दिनतें, सुरतन अन्त चली ॥
आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ, काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मैं हँस-हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ ॥
कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन, जो कछु करूँ सो पूजा।
गिरह-उद्यान एक सम देखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा ॥
जहँ तहँ जाऊँ सो परिकरमा, जो कछु करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत, पूजूँ और न देवा ॥
शब्द निरंतर मनुआ राता, मलिन बचन का त्यागी।
ऊठत-बैठत कबहुँ न बिसरै, ऐसी तारी लागी ॥
कहैं कबीर यह उन्मनी रहनी, सो परकट कर गाई।
सुख-दुख के इक परे परम सुख, तेहिमें रहा समाई ॥"

पर उनके संप्रदायवाले उनकी उपर्युक्त उदात्त भावनाकी सम्यक् प्रतीति नहीं कर सके। उन्होंने कबीरको या तो वेदांती सिद्ध किया या पक्का योगी। कबीर-कृत 'अगाध-मंगल' और 'काया पञ्जी' का तो प्रतिपाद्य विषय ही योग है। आज भी कबीरके नामपर योगपरक कविताओं का अंबार लगा दिखलाई पड़ता है, जिनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। उनमेंसे कितना भाग उनकी प्रारंभिक रचनाओंका है और कितना प्रक्षिप्त है, इसका निर्णय करना अधिकारी विद्वानोंके लिये भी असंभव ही है। भाषाके आधार पर इसका समाधान किया नहीं जा सकता, क्योंकि कबीरकी भाषा ही कुछ इतनी मिली-जुली है कि भाषाके आधार पर तो उनकी अपनी रचनायें भी प्रक्षिप्त सिद्ध की जा सकती है। किसी पर पंजाबीका प्रभाव है, किसीपर राजस्थानीका, तो कोई खड़ी बोलीके रंग में रँगी हुई है। कबीरपंथके आदि-संस्थापक धर्मदासने हठयोग-विषयक पद लिखे हैं। उदाहरणार्थः—

'झरि लागै महलिया गगन घहराय।
खन गरजे, खन बिजुली चमकै, लहरि उठै, सोभा बरनि न जाय।
सुन्न महल से अमृत बरसै, प्रेम अनद ह्वै साधु नहाय।।
खुली केवरिया, मिटी अँधियरिया, धनि सतगुरु जिन दिया लखाय।
धरमदास बिनवै करि जोरी, सतगुरु चरण मे रहत समाय।।"

'धरमदासजी की शब्दावली'।

अथवा

"गगन पिय बंसी फेरि बजावो।।
भँवर गुफा से उठत बुलबुला, सो अजन पिय नैन लगाओ।
जो बसी सुर नर मुनि मोहे, सो बंसी पिय मोहि सुनावो।।
आनो कूजी खोलो ताला, मोहनि मूरति मोहि दिखावो।
धरमदास बिनवै कर जोरी, चरन कँवल नरे मोहि लगावो।।"

'धरमदासजी की शब्दावली'।

कबीरके बाद प्रधानताकी दृष्टिसे संत-साहित्यमें दादूका महत्त्व है। दादू कबीरके पुत्र कमालके शिष्य थे। उनका भी जन्म कबीर की ही तरह आचरण भ्रष्ट योगीके परिवार में हुआ था। परिणामस्वरूप योगकी बहुतेरी प्रवृत्तियाँ उनके काव्यमें स्वभावतः आ गयी हैं। फिर भी योगकी सूक्ष्म बारीकियोंसे दादूका परिचय उतना नहीं जान पड़ता जितना कबीरका है। साथ ही दादू की रचनाओंमें योगपरक कविताओंका उतना प्राचुर्य नहीं है, जितना कबीरकी रचनाओं में; फिर भी उनका नितान्त अभाव नहीं है, । उदाहरणार्थ—

"सबद अनाहद हम सुन्याँ, नखसिख सकल सरीर।
सब घट हरि हरि होत है, सहजै ही मन थीर॥"

× × ×

"मन पवना ले उन्मन रहै, अगम निगम मूल सो लहै॥
पंच वाइ जे सहजि समावै, ससिहर के घरि आणै सूर॥
सीतल सदा मिलै सुखदाई, अनहत सबद बजावै तूर॥
बक नालि सदा रस पीवै, तब यहु मनवाँ कही न जाइ।
बिगसै कँवल प्रेम जब उपजै, ब्रह्म जीव की करै सहाइ॥
बैसि गुफा मे जोति बिचारै, तब तेहि सूझै त्रिभुवन राइ।
अंतरि आप मिलै अविनासी, पद आनद काल नहि खाइ॥
जामण मरण जाइ भव भाजै, आवरण के घरि वरण समाइ।
दादू जाय मिलै जग-जीवन, तब यहु आवागमन बिलाइ॥"

—'दादूदयालकी बानी'।

× × ×

"साईं कूँ मिलिबे के कारण।
त्रिकुटी संगम नीर नहाई।" —'दादूदयालकी बानी'।

× × ×

"ऐसा ज्ञान कथै मन ज्ञानी।
इहि घर होइ सहज सुख जानी॥

गंग जमुन तहँ नीर नहाइ ।
सुखमण नारी रंग लगाइ ॥
आप तेज तन रह्यो समाइ ।
मैं बलि ताकी देखौ अघाइ ॥
वास निरंतर सो समझाइ ।
बिन नैननहुँ देखि तहँ जाइ ॥
दादू रे यहु अगम अपार ।
सो धन मेरे अधर आधार ॥"

—'दादूदयालकी बानी'।

दादूने योगियोंके अजपा जापके विषयमें भी लिखा है, जिसमें मन ही माला है, जो सुरतिकी डोरीसे ग्रथित है, और बिना हाथोंके सहारे ही जिसे श्वास निशि-वासर जपा करता है—

"सतगुरु माला मन दिया, पवन सुरति सूँ पोय ।
बिन हाथों निसदिन जपै, परम जाप यूं होय ॥"

—'दादूदयालकी बानी'।

पर इन योगपरक रचनाओंके रहते हुए भी दादूके सूक्ष्म अध्ययनसे ऐसा ज्ञात होता है कि उन्होंने भी कबीर ही की तरह यौगिक कृच्छ्र-साधनाको निस्सार मानकर सहज-समाधिका आश्रय लिया था। फिर भी योगके विरोधमें उन्होंने उतना स्पष्ट नहीं लिखा है, जितना कबीरने। उन्होंने कहा है—

"थकित भयों मन कह्यो न जाई। सहज समाधि रह्यो ल्यौ लाई ॥"

—'दादूदयालकी बानी'।

दादूके अनेक शिष्य हैं, जिनमें सुन्दरदास, रज्जब, जनगोपाल, जगन्नाथ, मोहनदास, खेमदास आदि प्रसिद्ध हैं। सुन्दरदास ही संत-साहित्यमें एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने विधिपूर्वक शास्त्राध्ययन किया है। उनकी पुस्तक 'ज्ञान-समुद्र' सांख्य, अद्वैत और योगका लक्षण-ग्रन्थ है। उन्होंने योगके शास्त्रीय निरूपणमें 'गोरक्ष-पद्धति', 'शिव-संहिता'

और 'हठयोग-प्रदीपिका'की विशेष सहायता ली है। इसके अतिरिक्त भी उन्होंने अन्यत्र योगपरक कवितायें लिखी हैं। जगजीवनदासकी भी योगपरक कवितायें मिलती है—

"तूँ गगनमण्डल धुनि लाव रे॥
सुरति साधिके पवन चढावहु, सकल सबै बिसराव रे।
थिर ह्वै रहि ठहराय देखु छवि, नयन दरस रस पाव रे॥
सो तुम होहु मस्त लै मनुआँ, बहुरि न एहि जग आव रे।
जगजीवनदास अमर डरपहु नहि, गुरुके चरन चित लाव रे॥"

रज्जब, जगन्नाथ, दयाबाई प्रभृति संतोने भी यौगिक प्रक्रियाओको अपने काव्यमे स्थान दिया है।

योगके सम्बन्धमें नानककी किसी पुस्तक 'अष्टांग योग'का उल्लेख किया जाता है। बुल्ला साहबने भी हठयोगको ध्यानके लिये उपयुक्त माना है। अक्षर अनन्यके 'राजयोग' और 'ध्यानयोग'मे योगकी महत्ताका प्रतिपादन किया गया है। उन्नीसवीं शताब्दीके उत्तरार्द्ध तक यौगिक प्रक्रियाओको किसी-न-किसी रूपमें काव्यमें महत्त्व दिया गया। इस समय राधा-स्वामी सम्प्रदायने योग-परम्पराको काव्यमें जीवित रखा।

सूफियोने संतोकी अन्यान्य प्रवृत्तियोकी तरह योगकोभी अपने काव्यमें समादृत किया है। कबीरके प्रादुर्भावके बहुत ही पहले 'अमृत कुण्ड' जैसे अनुपम योग-ग्रन्थका अनुवाद अरबी भाषामें हो चुका था। "उसमानने 'चित्रावली'से क्रमशः 'भोगपुर', 'गोरखपुर', 'नेहनगर', एव 'रूपनगर',का उल्लेख किया है, जिससे प्रकट होता है कि भोगसे नेह तक पहुँचनेके लिये योग मार्ग है।" जायसीने 'पदमावत'मे योग-मार्गको साधनके रूपमें स्वीकार किया है। योगीके लिये जो भी

अपेक्षित वाह्य वेश-भूषा हो सकती है, उन सबोका उसमे उल्लेख है, जैसे मेखला, सिंघी, चक्र, धंधारी, जोगबाट, रुद्राक्ष, अधारी, कंथा, दण्ड, मुद्रा, जपमाला, उदपान, बघछाला, पाँवरी, छाता और खप्पर आदि। योग-मार्गमें गुरु 'शिव'के समान माने जाते है। इसलिये विपत्तिमे रतनसेन (योगी) जहाँ कहीं भी हदसे ज्यादा घबड़ा गये है, शिव उनके सामने सहायताके लिये खड़े दिखलाई देते है; लेकिन कठिन परीक्षा लेकर, सहज ही नही। 'सात-समुन्दर'का प्रतीक विघ्न-बाधाओका प्रतीक है, जिनका अतिक्रमण सिद्धिके पूर्व योगियोके लिये अभीष्ट समझा गया है। सिहलद्वीपका वर्णन भी हठयोगके विभागोके अनुसार शरीरका वर्णन है। सिहलद्वीप वस्तुत वह स्थान-विशेष है, जहाँ जाकर योगी अपनी परीक्षा दिया करते है। नव नाथ और चौरासी सिद्धोका भी 'पदमावत'में उल्लेख है—

'नवौ नाथ चलि आवहि औ चौरासी सिद्ध'

—'जायसी-ग्रथावली', पृ० ११३।

जायसी-कृत 'अखरावट'मे भी योगकी चर्चा है। पर अच्छी तरह विचार करके देखा जाय तो जायसीका योग-सम्बन्धी ज्ञान अधकचरा ही साबित होगा। योगकी बाहरी बातोको तो उन्होने ग्रहण कर लिया है, पर उसके मूलमे उनका प्रवेश नही जान पडता।

यहाँ पर यह भी कह देना युक्तिसंगत होगा कि योगको वे साधनके रूपमे स्वीकार करते थे, अन्तिम सत्यके रूपमें नही। इसीलिये पद्मिनी जब रत्नसेनको प्राप्त हो जाती है, तब वे उनके योगको अधिक महत्त्व नही देते; एक प्रकारसे उसका उपहास ही करते है।

कुतुबन-कृत 'मृगावती' में भी कंचनपुरके राजाकी राजकुमारी मृगावती पर चंद्रगिरिके राजाका पुत्र मोहित होकर योगी हो जाता है, और अनेक प्रकारके कष्टोको झेलता हुआ अंतमें उसे प्राप्त करता है।

इस तरह यह प्रमाणित होता है कि कबीर प्रभृति संतोंकी ही तरह सूफियोंकी भी योग पर आस्था थी।

बीसवीं शताब्दीमें योगपरक सिद्धांतोंके लिये काव्यमें कोई भी स्थान नहीं रह गया, फिर भी इस शताब्दीके तृतीय और चतुर्थ दशकमें संत-साहित्यकी अनेकानेक प्रवृत्तियाँ नयी अभिव्यंजना-शैलीमें रहस्यवाद या छायावादके रूपमें देखनेको मिलती हैं। रहस्यवादमें योगके लिये कोई भी स्थान नहीं, पर विरोधाभासके रूपमें कहीं-कहीं उलटबासियोंका प्रच्छन्न रूप अवश्य दिखलाई देता है। कहीं मृत्युमें निर्वाण है, तो कहीं जलनमें सुख; कहीं आँसुओंसे प्यार है, तो कहीं काँटोंसे दुलार; या यों कहिये कि निवृत्तिमें ही प्रवृत्ति है। हम कुछ हद तक इन्हें उलटबासियों का ही बदला हुआ रूप मानते हैं, नयी अभिव्यंजना-शैलीके कारण इनके स्वरूपमें बहुत-कुछ परिवर्तन हो गया है। अपवादके रूपमें आधुनिक कवियोंकी भी कुछ ऐसी रचनायें मिल जायँगी, जिनमें यौगिक प्रक्रियाओंको तो अभिव्यक्ति नहीं दी गयी है, फिर भी योगकी शक्ति पर विश्वास रखते हुए कुछ ऐसे प्रसंगोंकी उद्भावनायें की गयी हैं, जिनका उल्लेख यहाँ वांछनीय है। 'जयद्रथ-वध' में योग-शक्तिके ही बल पर कृष्णने चमत्कार दिखलाया है। 'साकेत' में योगवशिष्ठ इस शक्तिका प्रतिनिधित्व करते हैं। निरालाकी अमर रचना 'रामकी शक्ति-पूजा' और प्रसादकी 'कामायनी' इस प्रसंगमें चिरस्मरणीय रहेंगी। योग-दर्शनमें काव्यके लिये जो सुलभ उपकरण मिले हैं, उन्हें निरालाने 'रामकी शक्ति-पूजा'में मूर्त रूप दिया है। आज्ञा, सहस्रार आदि चक्रोंपर रामचंद्रके मनके चढ़नेकी क्रियाके अतिरिक्त हनुमानका समुद्रको विलोड़ित करते हुए महाकाश में चढ़ना यहाँ उल्लेखनीय है। 'कामायनी' के 'आनंद' सर्गमें इच्छा, ज्ञान और क्रियाका मिलन, और इसके परिणामस्वरूप अनाहत नादकी योजना

शैवागम के आधार पर की गयी है। पर इतना होते हुए भी काव्यमें योगका स्थान नगण्य-सा ही है।

सिद्धांतके क्षेत्रमें योग-शास्त्रका पुनर्मूल्याङ्कन हो रहा है। V.S. Rale ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Mysterious Kundalini' में हठयोग-द्वारा स्वीकृत विधानोंका शरीर-विज्ञानसे साम्य दिखलाया है। योग की बहुत-सी क्रियायें त्राटक (Hypnotism) की बहुतेरी प्रवृत्तियो का रहस्योद्घाटन कर रही है। देखा जाय, कौन-कौनसे गोरखधंधे योग-द्वारा आज वैज्ञानिक सिद्ध होते है।

अंतमें हमें यही कहना है कि सौंदर्य-शास्त्र और भावयोगकी दृष्टि से साधनात्मक योगका भले ही काव्यमे महत्त्व नहीं हो, फिर भी योग-प्रदत्त एकाग्रता कवि हृदयका आलंबनसे तादात्म्य करानेसे सहायक होती है , इसमें सदेह नही। इसीलिये दण्डी जैसे लक्षणग्रथकारने भी समाधिको काव्यका अत्यन्त आवश्यक उपादान माना है।

निर्गुण-साहित्यका दार्शनिक आधार

भारतीय साहित्य लौकिक हो या आध्यात्मिक, वह दार्शनिक विचारोंसे सदैव अनुप्राणित रहा है। भारतके अणु-परमाणुमें दर्शन की अखंड ज्योतिकी जैसी परिव्याप्ति है, वह केवल यहाँके ज्ञानियोंको ही सत्यके अन्वेषणके लिये उद्‌बुद्ध करती रही हो, यह बात नहीं; हमारे कवियोंने भी उससे पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है। "आदि-काव्य रामायण क्रौंच-क्रौंची की मिथुन-बाधा से आरंभ होकर राम (पुरुष) के स्वर्गारोहण और सीता (प्रकृति) के पाताल-प्रवेशमें समाप्त होता है। यह इस बातका साक्षी है कि हमारे आदि-कविने तुच्छातितुच्छ लोक-घटनासे लेकर उच्चतम दार्शनिक तत्त्वका समन्वय एक ही रचना-के अन्तर्गत किया है। यही हमारे यहाँकी सनातन काव्य-परिपाटी रही है। महाकवि कालिदासने अपने काव्योंसे श्रृंगारकी सीमा स्पर्श कर ली थी, किंतु कुमारसंभवके शिव-पार्वती-प्रसंगमें श्रेष्ठतम दार्शनिक भावना स्वच्छतम रूपमें प्रकट हो उठी है। 'अभिज्ञान शाकुंतल'को तो सात समुद्र पारका द्रष्टा कवि गेटे अपनी श्रद्धांजलि भेंट करता है—'इसमें पृथ्वी (प्रकृति) स्वर्ग (पुरुष) से मिलने आ गयी है, और दोनों परस्पर एक हो गये हैं'। परवर्ती कालके अलंकार और सप्तशतीकारोंने अवश्य लौकिक भावोंको ही अपनी आत्माका सूत्र पकड़ लेने दिया था; परन्तु ऐसा समय कभी नहीं आया, जब कोई भी साहित्यका पण्डित निर्भय या सभय भावसे भी यह कह सकता कि धर्म और दर्शनके तत्त्वोंसे रिक्त काव्य ही एकमात्र श्रेष्ठ काव्य है।" † इसी

---

† 'सूर-सुषमा' की प्रस्तावना (पृ० २)—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी।

दार्शनिक चिन्तन और आध्यात्मिक उन्मेषके कारण भारतीय साहित्यका सामान्य स्तर विजातीय साहित्यकी अपेक्षा उत्कृष्ट जान पड़ता है। भक्ति-युगके स्वर्ण-युगकी संज्ञा प्राप्त करनेका भी यही रहस्य है।

हिन्दी साहित्यके सम्यक् अध्ययनसे यह विदित होता है कि भक्ति-साहित्यमें दर्शनका जितना सान्निध्य है, उतना अन्यान्ययुगीन साहित्योंसे नहीं। अन्य युगोंका या तो कोई दर्शन ही नहीं; और अगर है भी, तो उसकी धारा बड़ी क्षीण प्रवाहित हुई है। चारण-युगसे तो कहीं भी ऐसा आभास नहीं मिलता कि उसमें जीवनको एक स्वस्थ दृष्टिकोणसे देखनेकी चेष्टा की गयी हो, या मनन और चिंतनके परिणामस्वरूप सत्यकी संश्लिष्ट झाँकीका मंगलमय आलोक विकीर्ण किया गया हो। उसका आदि शृंगारमें है, उसका अंत शृंगारमें है; और बीचमें वीररस समुद्रकी उत्ताल तरंगोंकी तरह हिलोरें ले रहा है। अतएव उसमें दार्शनिक आधारकी टोह व्यर्थ होगी। रीति-युगका तो कहना ही क्या? उसका यदि कोई दर्शन है, तो चार्वाक-दर्शन (और वात्स्यायन-दर्शन भी), जिसका मूल ध्येय है केवल आनन्द। वहाँ आध्यात्मिक सुख नहीं, ऐन्द्रिक सुख है; समष्टिका आनन्द नहीं, व्यष्टिका आनन्द है। चाहे नीतिकी अवहेलना करनी पड़े, या विधि-विधानको भूल जाना पड़े, पर रीतियुगीन कवि इन्द्रिय-लिप्सासे विमुख नहीं हो सकते। उन्होंने चार्वाककी तरह ईश्वरके अस्तित्वको तो अस्वीकृत नहीं किया है, पर वे ईश्वरको मानकर भी उसके नामको कलंकित अवश्य कर देते हैं। उनके साहित्यमें प्रकाण्ड पाण्डित्य हो सकता है, पर वहाँ आदर्श कहाँ! संसारका कोई भी दर्शन अनीतिमत्ताको प्रोत्साहन नहीं देता। भारतीय विचारकोंने, इसीलिये, चार्वाककी काफी धज्जियाँ उड़ायी हैं। अतः रीति-युगके काव्यमें भी दर्शनका आधार नगण्य-सा है।

इसके अनन्तर नवीन जागरणका युग आता है भारतेन्दुके साहित्याकाश-में उदित होने पर। भारतेन्दुको हम आंशिक रूपमें पुष्टिमार्गी कवि कह

सकते हैं। उनका भक्तिमूलक साहित्य सूर और नंदकी परंपराका साहित्य है। भारतेन्दु-युगके बाद द्विवेदी-युगसे गुप्त और हरिऔध वैष्णव-भावनाकी भूली हुई कड़ियोंको शृंखलाबद्ध करते दिखाई देते हैं। तदनन्तर हिन्दी पर पाश्चात्य-दर्शनका प्रभाव लक्षित होने लगता है। कुछ मार्क्स और लेनिनसे प्रभावित होते हैं, तो कुछ इब्सन, बर्नार्ड शा और ईलियटसे। इसी समय स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द, संत अरविंद और महात्मा गांधी- द्वारा भारतीय दर्शनका भी विकास होता है, जिससे हिंदी-साहित्य कम प्रभावित नहीं होता। निरालाके प्रारम्भिक साहित्य पर रामतीर्थ और विवेकानन्दका, एवं पंतके सद्य प्रकाशित काव्यसंग्रहों ('स्वर्ण-धूलि' और 'स्वर्णकिरण')पर संत अरविंदका स्पष्ट प्रभाव है। पं० सोहन-लाल द्विवेदी और पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' गांधी-दर्शनसे प्रभावित हैं। प्रसाद जी काशीके अन्यान्य भक्तोंकी तरह शैव-दर्शनसे अधिक अनुप्राणित दीख पड़ते हैं। इस प्रकार साहित्यके प्रत्येक युगमें दर्शनकी सत्ता विद्यमान है। किंतु इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित होगा कि भक्तियुगकी तरह अन्यान्य युगोंके आधारमें भी दर्शन परिपुष्ट रहा है। आधुनिक युगकी अधिकांश दार्शनिक प्रवृत्तियाँ राजनीति और अर्थशास्त्रसे परिचालित हो रही हैं। लेकिन भक्ति-युगका दर्शन विशुद्ध दर्शन है।

भक्ति-युगका साहित्य स्पष्टतः दो धाराओंमें विभक्त हो गया है—निर्गुण-धारा और सगुण-धारा। दोनोंके दार्शनिक आधार भिन्न-भिन्न हैं। यहाँ सगुणकी अपेक्षा निर्गुणका विश्लेषण विस्तारके साथ किया जायगा।

निर्गुण-ब्रह्मसे तात्पर्य है, सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणोंसे विवर्जित ब्रह्मका। ये पारिभाषिक गुण हैं, जिनकी विशद व्याख्या तो सांख्यमें की गयी है, पर जिनका बार-बार उल्लेख ऋग्वेदमें मिलता है। सांख्यकी ही तरह, सृष्टिके विकासके प्रसंगमें, ऋग्वेदके दशम मण्डलके १२९ वें सूक्त ('नासदीयसूक्त')में सत्, रजस् और तमस्की

चर्चा की गयी है। सृष्टिके पहले न सत् था, न रजस्, न तमस्; परन्तु 'कुछ नही'से 'कुछ'की उत्पत्ति नही हो सकती। कवि कहता है कि उस समय केवल एक था, जो बिना हवाके साँस ले रहा था। उस समय अंधकार अंधकारमें लीन था, मानो सभी चीजें पानीके गर्भमें थीं। न जाने कैसे 'उस एक'मे काम-बीजका उद्भव हुआ, जिससे सारे संसारकी सृष्टि हुई। अतएव 'नासदीय सूक्त'के अनुसार सृष्टिके बाद ही सत्, रजस् और तमस्का अस्तित्व कहा जा सकता है। इसके पूर्व तो केवल एक सत्ता थी। वह सत्ता त्रिगुणातीत थी †। यह सूक्त 'तैत्तिरीय ब्राह्मण' (२-८-९)मे भी आया है; और महाभारतके अन्तर्गत नारायणीय या भागवत-धर्ममे इसी सूक्तके आधारपर यह बात बतलायी गयी है कि भगवान्की इच्छासे सृष्टि पहले-पहल कैसे उत्पन्न हुई (म० भा०, शा० प०, ३४२)।

'नासदीय सूक्त' की ही तरह ऋग्वेदके एक अत्यधिक प्रसिद्ध स्थल 'पुरुष-सूक्त' मे पुरुषके विश्वरूपकी कल्पना की गयी है। पुरुषके हजारों सिर है, हजारो आँखे और हजारो चरण। उसके एक चरणसे सारा

---

† "नासदासीन्नो सदासीत्तदानी नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीव कुह कस्य शर्मन्नम्भ किमासीद्गहन गभीरम्॥
न मृत्युरासीदमृत न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेत।
आनीदवात स्वधया तदेक तस्माद्धान्यन्न पर किंचनाऽस॥
तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेत सलिल सर्वमा इदम्।
तुच्छेनाभ्वपिहित यदासीत् तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम्॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत प्रथम यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषाम् अध स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयति परस्तात्॥"

ब्रह्मांड समाया हुआ है, और तीन अमृत भरे चरण द्युलोकमें स्थित हैं । भाव यह है कि पुरुषकी व्यापकता विश्व-ब्रह्माण्डमें ही समाप्त नहीं हो सकती । जो हुआ है और जो होगा, वह सब पुरुष ही है —

"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्" ।

यह पुरुष त्रिगुणातीत, प्रकृतिके परे है, अर्थात निर्गुण है । निर्गुणियोंकी ब्रह्मकी कल्पना 'पुरुष-सूक्त'में वर्णित पुरुष, और 'नासदीय-सूक्त'में वर्णित 'उस एक' से अत्यधिक मिलती है । इस तरह संत-साहित्यके निर्गुण ब्रह्मका मूल-स्रोत हम ऋग्वेदमें ही पाते हैं ।

डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्रीने इसका सम्बन्ध व्रात्य-भावनासे दिखलाया है, जिसका विकास ऋग्वेदके भी पूर्व माना गया है । अथर्ववेदमें व्रात्य केवल ब्राह्मणादिसे ही नहीं, बल्कि सभी देवोंसे ऊँचा और पूज्य कहा गया है । उससे ही सारे विश्वकी सृष्टि बतलायी गयी है । अथर्ववेदमें स्थान-स्थान पर कहा गया है—"जो ऐसा जानता है, वह कीर्ति और यश प्राप्त करता है । नमो व्रात्याय ।" अथर्ववेदके पन्द्रहवें काण्डके १५-१७ वें सूक्तमें व्रात्यके श्वास-प्रश्वासको विश्वकी धारक-शक्ति बताया गया है । आगे चलकर १८ वें सूक्तमें विश्व पुरुषके रूपमें व्रात्य

---

[1] "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो स्पृष्ट्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥
एतावानस्य महिमा अतोज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।"

—ऋ० १० । ९० । २ ।

का वर्णन है *। पहले सूक्तमें उसे महादेव तककी उपाधि दी गयी है। व्रात्यके इस देवत्वका प्रमाण यह सूक्त ही नहीं; 'जैमिनीय ब्राह्मण' (२।२२२)में भी ईशान (जिसका वहाँ वायुसे एकत्व माना गया है) का स्वरूप एक व्रात्य बताया गया है। 'जैमिनीय ब्राह्मण' (३।२१) में वायु को (जो विश्वदेव है, और अन्य सब देवता जिसकी नाना अभिव्यक्तियाँ-मात्र हैं) व्रात्य, एक व्रात्य, सब देवोंकी योनि (बिल), और (विकासकी) चरमावधि कहा गया है। 'प्रश्नोपनिषद्'में सर्वोच्च देवेशके लिए कहा है— 'हे प्राण, एकर्षि, विश्वके भोक्ता, तुम ही एकमात्र व्रात्य हो'। † व्रात्यकी

* "तस्य व्रात्यस्य ॥१॥
यदस्य दक्षिणमक्ष्यसौ स आदित्यो यदस्य सव्यमक्ष्यसौ स चन्द्रमा. ॥२॥
योऽस्य दक्षिण कर्णोऽयं सो अग्निर्योऽस्य सव्यः कर्णोऽयं स पवमानः ॥३॥
अहोरात्रे नासिके दितिश्चादितिश्च शीर्षकपाले संवत्सर शिर. ॥४॥
अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो रात्र्या प्राङ् नमो व्रात्याय ॥५॥"
—'अथर्ववेद', १५वाँ काण्ड।

† "व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पति ।
वयमाद्यस्य दातार पिता त्वं मातरिश्वन ॥"
—'प्रश्नोपनिषद्' (२।११)।

'व्रात्य' शब्दका अर्थ 'संस्कारहीन' किया जाता है—'व्रात्यो नामोपनयनादिसंस्कारविहीन पुरुष.'। मनुने कहा है—
"अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृता.।
सावित्री पतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिता ॥"
—'मनुस्मृति' (२।३९)।
(ठीक समय पर संस्कार न होनेसे ये तीनों—ब्राह्मण, क्षत्रिय,

महिमा तो इस सीमा तक बढ़ायी गयी कि उसका आतिथ्य भी बडे माहात्म्य का विषय बन गया । यदि वह किसी घरमे एक रात ठहरे, तो गृही पृथ्वीके सभी पुण्यलोको का अधिकारी हो जाता था; दूसरे दिन ठहरे तो अतरिक्षके, तीसरे दिन द्युके, चौथे दिन पुण्य के पुण्यलोको का

वैश्य—यज्ञोपवीत-रहित होकर समाजमें निंदित होते है, और 'व्रात्य' कहलाने लगते है) ।

'मनुस्मृति'में तो व्रात्यको चाडालकी कोटिमे रखा गया है, और व्रात्यताको उपपातक माना है—

'व्रात्यया सह सवासे चाण्डाल्या तावदेव तु' (८।३७३)

अथवा

'व्रात्याना याजन कृत्वा परेणामन्त्यकर्म च ।
अभिचारमहीन च त्रिभि कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥' (११।१९७)

अथवा

'व्रात्यता वान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च ।

× × ×

स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्य चोपपातकम् ॥' (११।६२-६६) ।

जैसा डा० ब्रह्मचारीका मत है, आधुनिक सस्कृतमे 'व्रात्य' शब्दकी वही दुर्गति हुई, जो 'देवानाम्प्रिय' की । पर हम समझते है कि 'व्रात्य' का 'सस्कारहीन' अर्थ निश्चित रूपसे आधुनिक पडितोकी ही कृपाका फल नही । 'प्रश्नोपनिषद्'के भाष्यमे शकराचार्यने भी 'व्रात्य'का यही अर्थ माना है परन्तु वहाँ सस्कारहीनता महत्ताका विषय बन गयी है—

'प्रथमजत्वादन्यस्य सस्कर्तुरभावादसस्कृतो व्रात्यस्त्व स्वभावत एव शुद्ध इत्यभिप्राय' (२।११) ।

अर्थात्, हे प्राण ! सबसे पहले उत्पन्न होनेवाला होनेसे किसी अन्य सस्कारकर्ताका अभाव होनेके कारण तू व्रात्य (सस्कारहीन) है । तात्पर्य यह कि तू स्वभावसे ही शुद्ध है ।

और पाँचवें दिन अपरिचित पुण्यलोकों का †। इसलिये यह कहना निराधार नहीं होगा कि अथर्ववेदमें व्रात्य की कल्पना किसी भी दशामें 'पुरुष-सूक्त'के पुरुषकी कल्पनासे निकृष्ट नहीं। इसके साथ-ही-साथ यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि व्रात्यों की प्रकृतिसे निर्गुणियों की प्रकृति का जितना साम्य है, उतना वेदानुयायी आर्यों की प्रकृतिसे नहीं। व्रात्य एक प्रकारके साधु-सन्यासी होते थे, जो एक विशेष ढंग की वेश-भूषा धारण किये घूमा करते थे। उनके उपास्य रुद्र थे। उनकी उपासना-विधि योगाभ्यासमूलक थी, तथा इसके साथ-साथ उनका पृथक् ज्ञान-काड भी था। आगे चलकर शायद व्रात्य-सम्प्रदाय ही सिद्धों और नाथपंथियों के रूपमें विकास पा सका। डा० ब्रह्मचारी के मतसे "अथर्ववेद का 'व्रात्य' ही ऋग्वेद का 'पुरुष' बना, जो उपनिषदों और सांख्यसे होता हुआ कबीर और परवर्ती संतों में 'सत्पुरुष'के रूपमें प्रकट हुआ"। ′

---

† "तद् यस्यैव विद्वान् व्रात्य एका रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ १ ॥
ये पृथिव्या पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ २ ॥
तद् यस्यैव विद्वान् व्रात्य द्वितीया रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ३ ॥
ये अन्तरिक्षे पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ४ ॥
तद् यस्यैव विद्वान् व्रात्यस्तृतीया रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥ ५ ॥
ये दिवि पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ६ ॥
तद् यस्यैव विद्वान् व्रात्यश्चतुर्थी रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ॥७ ॥
ये पुण्याना पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ ८ ॥
तद् यस्यैव विद्वान् व्रात्यो परिमिता रात्रीरतिथिर्गृहे वसति ॥ ९ ॥
य एवापरिमिता पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे ॥ १० ॥"

—'अथर्ववेद', १५ वाँ काड।

′ 'निर्गुण-भावनाका विकास' ('साहित्यिक निबंधावली'में संग्रहीत)।

'छान्दोग्य', 'श्वेताश्वतर' और 'कठ' आदि उपनिषदोंमे भी गुण-सिद्धान्त और ब्रह्म-भावना का यथोचित विकास दिखाई देता है। सत्त्व, रजस्, तमस्—यह त्रिगुणोका सिद्धान्त उपनिषदोंमे प्रथमत 'छान्दोग्य'मे दृष्टिगत होता है। 'छान्दोग्य' का कथन है कि अग्नि का रूप लाल है, जलका शुक्ल और पृथ्वीका कृष्ण। इस जगत् की सृष्टिमें ये ही रूप कारणभूत है; ये ही सत्य है। 'श्वेताश्वतर'में एक श्लोक है—

'अजामेका लोहितशुक्लकृष्णा बह्वी प्रजा सृजमाना सरूपा'।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येना भुक्तभोगामजोऽन्य ॥'
(४।१५)।

अर्थात् 'एक बहुत-सी सदृश प्रजाओ को उत्पन्न करनेवाली लाल, सफेद और काले वर्णकी अजा (बकरी, या कभी उत्पन्न न होनेवाली प्रकृति) है। एक अज (बकरा, या बद्ध जीव) उसके साथ रमण करता है। दूसरा अज (बकरा, या मुक्त पुरुष) उस योगकी हुई को छोड देता है।' यह सांख्यके अनुसार तीन गुणो वाली अजा प्रकृति है। पर 'श्वेताश्वतर'का 'सांख्य' निरीश्वर सांख्य नही। उसका पुरुष निर्गुण-ब्रह्म है।

सगुण-ब्रह्म की भी चर्चा उपनिषदोंमें मिलती है, फिर भी निर्गुण-ब्रह्म का निरूपण ही उनका प्रधान विषय है। श्रुति, इसीलिये, सदा 'नेति-नेति' कह कर उसका परिचय देती है। 'बृहदारण्यक' श्रुति कहती है—

'स एष नेति नेति आत्मा'।

सांख्य-दर्शन में गुण-सिद्धान्त का पूर्ण परिपाक दिखाई देता है, लेकिन सांख्य-दर्शन निरीश्वरवादी है। उसका 'पुरुष' त्रिगुणातीत तो है, पर निर्गुण-ब्रह्मका पर्यायवाची नही। सांख्यशास्त्रियोके मतसे

'पुरुष' अनेक हैं, पर निर्गुणियोका तो परब्रह्म एक है। संतोका परब्रह्म जितना अथर्ववेदके 'व्रात्य', 'पुरुषसूक्त'के 'पुरुष', 'नासदीय सूक्त'के 'उस एक', और उपनिषदोके निर्गुण-ब्रह्मसे सादृश्य रखता है, उतना निरीश्वरवादी साख्यमें प्रतिपादित 'पुरुष' से नहीं। हाँ, सांख्य की प्रकृतिको उन्होने मायाके समानार्थक रूपमें ग्रहण किया है। जहाँ तक गुण-भावना का प्रश्न है, सांख्यकी अपेक्षा गीताकी गुण-भावनासे निर्गुणियोंका विशेष सान्निध्य है। भगवान् कृष्ण अर्जुनको अपना परिचय देते हुए कहते है कि संसार त्रिगुणात्मक है, किन्तु मै निर्गुण हूँ, गुणोके परे हूँ—

'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।।" (७।१३)
"अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ।" (१३।३१)।

तात्त्विक दृष्टिसे विचार किया जाय, तो परब्रह्म निर्विकल्प, निरुपाधि, निर्विशेष, निर्गुण एवं त्रिगुणातीत है। सूर और तुलसी जैसे सगुणोपासक कवियोने भी इसे स्वीकार किया है। तुलसीदास सगुण और निर्गुण, दोनो को समान महत्त्व देते हैं।

'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा । अकथ अगाध अनादि अनूपा ।।'

सूरदासके एक पद[१] में भी निर्गुणके विचार को परम स्वाद और अमित तोष उपजानेवाला स्वीकार किया गया है, पर वह स्वाद और तोष गूँगेके गुड़की भाँति मनमें ही आस्वाद्य और प्राप्य है। उसकी ठीक-ठीक अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इसीलिये गीतामें कहा है कि जो शरीरधारी है, उनसे अव्यक्त की उपासना कठिनाई से होती है:—

---

[१] "अविगत गति कछु कहत न आवै ।
ज्यों गूँगै मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै ।।

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःख देहवद्भिरवाप्यते ॥" (१२।५)

यही कारण है कि ब्रह्मको निर्गुण मान कर भी भक्तिके क्षेत्रमें सगुण को श्रेष्ठ कहा गया । गीतामें स्पष्ट कहा गया है कि यद्यपि ब्रह्म निर्गुण है, फिर भी भक्तोंके लिये उसे स्थूल रूप धारण करना पड़ता है—

"परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥" (४।८)

अथवा

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम् ॥" (४।७)

माना कि निर्गुण-ब्रह्म ज्ञानयोग का विषय है, भक्तियोग का नहीं, किन्तु निर्गुण-उपासनाका विकास जिस समय हुआ, उस समय परिस्थिति ही ऐसी थी कि उपासनाके लिये निर्गुण-ब्रह्मका आश्रय लेना पड़ा। लोग चाहते तो भी, नहीं चाहते तो भी, निर्गुण-ब्रह्म ही उनके लिये एक-मात्र आधार बच रहा था । मदिरोमे जाते ही पगगड़धारी पंडितोका सामना करना पड़ता, जिनके पीछे राजाओ की शक्ति थी, सामंतो का ज़ोर था । इसीलिये निर्गुण-ब्रह्मको उन्होने अगीकार किया । और इसे आत्मसात् करनेमे सिद्धो और नाथपंथियोकी विचार-धारा पर्याप्त रूपमे सहायक सिद्ध हुई है ।

परम स्वाद सबही सु निरन्तर अमित तोष उपजावै ।
मन बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै ॥
रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालब कित धावै ।
सब विधि अगम विचारहिँ तातै सूर सगुन पद गावै ।"
—सूरदास ॥

यों तो सभी निर्गुण-कवियों ने निर्गुण-ब्रह्म की उपासना की है, पर दार्शनिक दृष्टिसे विचार किया जाय तो उनके बीच स्पष्टतः तीन धारायें प्रवाहित दीख पड़ेंगी—अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और भेदाभेद। शास्त्रीय अध्ययनके अभावके कारण उनकी कविताओंमें आद्यन्त किसी एक सिद्धान्तका प्रतिपादन नही मिलता, और कहीं-कहीं तो उनके विचारोंमें असंगति भी जान पड़ती है। इसीका यह परिणाम है कि कबीर की कविताओंमें नाना मतोंका निर्देश किया गया है। अन्डरहिलने कबीरके अद्वैतमें रामानुजके विशिष्टाद्वैतकी प्रतिच्छाया मानी है, फर्कुहरने निम्बार्कके भेदाभेदसे उसकी समानता प्रतिपादित की है, डा० बड़थ्वालने उसपर अद्वैतवादका प्रभाव सिद्ध किया है। डा० ब्रह्मचारीके मतसे उसमें व्याप्तिवाद, प्रतिबिम्बवाद और सरूपवाद (Permiation, Reflection and Identity) समान रूपसे परिव्याप्त है। किन्तु पं० हजारीप्रसाद द्विवेदीने प्रमाणित किया है कि कबीर की ब्रह्म-भावना द्वैत-अद्वैत, निर्गुण-सगुण, दोनोंसे परे है। यह सिद्धान्त अधिक संगत जान पड़ता है। स्थूल रूपसे देखने पर तो कबीर अद्वैतके पक्षपाती लगते है, पर और भीतर पैठनेसे यह ज्ञात होता है कि उन्होंने चिन्मय सत्ता की कल्पना निर्गुण और सगुण, दोनोंके परे की है; और केवल कबीरने ही नही, बल्कि अधिकांश संतोंने ऐसा ही प्रतिपादित किया है। डा० बड़थ्वालने इसी प्रवृत्ति को 'परात्परवाद' कहा है। सगुण 'हद' है, निर्गुण 'बेहद', परन्तु कबीर आगे बढकर कहते हैं—

> "हदमें रहै सो मानवा बेहद रहै सो साध।
> हद बेहद दोऊ तजै, ताका मता अगाध॥"

उन्होने और भी स्पष्ट कहा है—

> "निरगुन की सेवा करो सरगुन को करो ध्यान।
> निरगुन सरगुनसे परे तहाँ हमारो ध्यान॥" या

"वेद कहे सरगुनके आगे निरगुनका विसराम।
सरगुन निरगुन तजहु सुहागिन देख सबहि निजधाम॥" अथवा,
"सखि वह घर सबसे न्यारा, जहाँ पूरन पुरुष हमारा।

× × ×

नहि निरगुन नहि सरगुन भाई, नहि सूछम अस्थूल।
नहि अच्छर नहि अविगत भाई ये, सब जगके भूल॥"

दरिया साहब (बिहारवाले) भी कहते हैं—

'निरगुन सरगुन दुनहुँ ते न्यारा। सत सरूप ओइ बिमल सुधारा॥'

कबीरके शिष्य धर्मदासके निम्नलिखित पदसे भी यही आभास मिलता है कि वे 'निर्गुण' और 'सगुण' दोनो को 'जमका फंदा' समझते थे। उनका 'निर्गुण' वस्तुतः निर्गुण और सगुण, दोनोसे न्यारा है—

"सतगुरु कहत नाम गुन न्यारा।
कोई निरगुन कोई सरगुन गावै, कोइ किरतिम कोइ करता।
लख चौरासी जीव जतुमे सब घट एकै रमता॥
सुनो साध निरगुन की महिमा, बूझै विरला कोई।
सरगुन फन्दे सबै चलत है, सुर नर मुनि सब लोई॥
निरगुन नाम निअच्छर कहिये, रहै सबनसे न्यारा।
निरगुन सरगुन जम कै फन्दा, वोहि कै सकल पसारा॥
साहेव कबीर के चरन मनावो, साधुन के सिरताजा।
धरमदास पर दाया कीन्हा बाँह गहे की लाजा॥"

रैदास भी ब्रह्मको सगुण-निर्गुण से परे बतलाते हैं—

"गुन-निरगुन कहियत नहि जाके
कहौ तुम बात सयानी।"

केशवदास ने भी कहा है—

"सतगुरु सत्य पुरुष है अकेला। पिंड ब्रह्मांड तें बाहर मेला॥
दूरि ते दूर, ऊँच ते ऊँचा। बाट न घाट गली नहिं कूचा॥"

निर्गुण-कवियोंके इस परात्परवादका बीज वेदोमें किसी-न-किसी रूपमें मिलता है। ऋग्वेदके 'पुरुष सूक्त' में 'पुरुष' को पृथ्वी आदि लोको (भौतिक जगत्), अथवा दूसरे शब्दोंमें त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे परे बताया गया है—

"स भूमि विश्वतो स्पृष्ट्वा अत्यतिष्ठद्दशागुलम्"

या

"स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुर"।

यही भावना उन स्थलो पर और भी स्पष्ट हो जाती है, जहाँ ब्रह्म के एक पादमें ही सारा विश्व बताकर उसके तीन पादो को द्युलोकमें, या गुहामें स्थित माना गया है—

"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृत दिवि"

(ऋ० १०।९०।२)

अथवा

"त्रिभि पद्भिर्द्यामरोहत् पादस्येहाऽभवत्पुन"

(अथर्व० १९।६)

अथवा

"त्रीणि पदानि निहिता गुहाऽस्य यस्तानि वेद
स पितुष्पितासत्" (अथर्व० २।१।२)

'मुंडकोपनिषद्' में तो स्पष्ट शब्दोमें 'पुरुष' या ब्रह्म को परात्पर बताया गया है—

"यथा नद्य स्यन्दमाना समुद्रे-
ऽस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्त
परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥"

(३।२।८)

गीतामें भी अर्जुनने श्रीकृष्णके विश्वरूप-दर्शनके पश्चात् कहा है—'त्वमक्षर सदसत्तत्पर यत्' (११।३७)।

सांख्यके पुरुषके निर्लेपवादसे भी निर्गुण-ब्रह्मके परात्परवादकी अत्यन्त समता लक्षित होती है। गोरखपंथी योगियोने भी 'नाथों' को द्वैत-अद्वैत, सगुण-निर्गुण—दोनोके परे माना है ('गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह')।

इस प्रकार निर्गुण-संतोका परात्परवाद अत्यन्त प्राचीन कालसे ही स्वीकृत ब्रह्मका स्वरूप ज्ञात होता है।

कबीरने अपने परब्रह्म को कई नामो से पुकारा है। कुछ नाम उपनिषदो, नाथपथियो और पुराणोसे लिये गये है, कुछ निरंजन संप्रदाय से, और कुछ गढे-गढ़ाये नाम हैं,—जैसे साहब, अलख, अच्छै-पुरुष आदि। पर सबको उन्होने परपराभुक्त अर्थमें न लेकर अपने विशिष्ट अर्थमें ही ग्रहण किया है। कबीरका परब्रह्म—चाहे राम हो या गोपाल, रब हो या रहीम, गोरख हो या महादेव, सिद्ध हो या नाथ——'त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैत – विलक्षण, भावाभावविमुक्त, अलख, अगोचर, अगम्य, प्रेम-पारावार है। वह समस्त ज्ञान-तत्त्वोसे भिन्न, फिर भी सर्वमय है। वह अनुभवैकगम्य है, अनुभव से ही जाना जा सकता है*।' वह वेदातियो के निर्गुण - ब्रह्म की तरह निष्क्रिय नही, बल्कि क्रियाशील है; सृष्टि का रचयिता, पालनहार और संहारकर्ता है, फिर भी निर्लिप्त रहता है।

जीवके संबन्धमें कबीरका मत अद्वैतवादसे बिलकुल मिलता-जुलता है। अद्वैतवादके अनुसार जीव और ब्रह्म तत्त्वतः एक है, किन्तु मायाके कारण उनमें भेद जान पडता है। जिस दिन मायाका आवरण उनके बीचसे हट जायगा, उसी दिन दोनोका एकीकरण हो जायगा। कबीरने कहा है—

---

* 'कबीर' : पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी।

"जलमें कुंभ कुभ मे जल है, वाहरि भीतर पानी ।
फूटा कुंभ जल-जलहि समाना, यहु तत कथौ गियानी ॥"

ज्ञानके उन्मेषसे ही मायाका यह आवरण दूर होता है--

"देखो भाई ज्ञान की आयी आँधी ।
सभै उडानी भ्रम की टाटी, रहै न माइआ वाँधी ॥
दुचिते की दुइ थूनि गिगनी, मोहु वलेडा टूटा ।
तिसना छानि परी घर ऊपरी, दुरमति भाडा फूटा ॥
आँधी पाछै जो जलु वरखे, तिहि तेरा जनु भीना ।
कहि कवीर मनि भइया प्रगासा, उदै भानु जस चीना ॥"

जीव और ब्रह्म की एकताके विषयमें उनका मत है—

'सोह हसा एक समान' ।

मायाके सवंधमें भी उनकी धारणा शंकराचार्य की माया-संवंधी धारणासे मिलती है । ससारका अस्तित्व मायाके ही कारण है । "सांख्य की प्रकृतिके समान माया जगत् का उपादान कारण है । जगत् मायाका परिणाम है, और ब्रह्मका विवर्त । माया की उपस्थितिके कारण निर्गुण और अखंड ब्रह्म नामरूपात्मक जगत् के रूपमे परिवर्तित प्रतीत होने लगता है । माया और अज्ञानमें दो शक्तियाँ है— एक आवरण-शक्ति, और दूसरी विशेष शक्ति । अपनी पहली शक्तिके कारण माया आत्माके वास्तविक स्वरूपको ढँक लेती है । अपनी दूसरी शक्तिके वल पर वह जगत् के पदार्थों की सृष्टि करती है । वास्तवमे माया या अविद्या एक ही वस्तु है । शंकराचार्यने सृष्टिका हेतु वतानेमें दोनों शब्दोका प्रयोग किया है ।"

कवीरने मायाके दो रूपो की कल्पना की है—सत्य और मिथ्या—

"मायाके दुइ रूप है, सत्य मिथ्या ससार ।" अथवा
"माया है दुइ भाँति की, देखी ठोक वजाय ।
एक गहावै राम पै, एक नरक लै जाय ॥"

मायाके इसी द्वैत रूपके आधार पर दादूने उसे ठकुरानी और दासी, दोनों कहा है—

"माया चेरी सतकी, दासी उस दरवार ।
ठकुरानी सव जगतकी, तिन्यूँ लोक मँझार ।।"

रज्जव मायाको मित्र और शत्रु दोनो कहते हैं—

"रज्जव माया मन समि वैरा मीत न कोइ ।
कुकृत उपजै इन्हु सौ इनसौ सुकृत होइ ।।"

डा० कमल कुलश्रेष्ठने अपनी पुस्तक 'मलिक मुहम्मद जायसी' से यह बताया है कि जायसीके मतसे माया तीन प्रकारकी है । उनके अनुसार 'दुनियाधंधा' (नागमती), 'माया' (अलाउद्दीन), और 'शैतान' (राघव चेतन)—ये तीनो मायाके समानार्थक हैं । लेकिन अन्यान्य संतोकी तरह जायसीने इसका आभास-मात्र भी नही दिया है कि मायाके इन तीन रूपोंमें कौनसा रूप साधकके लिये हितकर है और कौन अहितकर । नागमती, अलाउद्दीन और राघवचेतन, तीनो रतनसेनकी साधनामे बाधक ही सिद्ध हुए हैं । फिर भी यदि विश्लेषण किया जाय, तो ज्ञात होगा कि नागमती और अलाउद्दीनकी प्रकृतिसे राघवचेतनकी प्रकृतिका इस हद तक साम्य नहीं है कि उन तीनोको तत्त्वत एक समझ लिया जाय । राघव-चेतनको अलाउद्दीन और नागमतीके वर्गमे नही रखा जा सकता । राघव-चेतन शैतानका प्रतीक है, और शैतानकी कल्पना सूफियोने हमारे पौराणिक नारदके रूपमेकी है, जिनका काम साधकको साधनाकी आगमे तपाकर तप्त कंचनकी तरह और भी निखार देना है, उसके अस्तित्वका लोप कर देना नहीं । नारदके ठीक विपरीत माया-रूपी सर्पिणी साधकको ऐसा डँस लेती है, कि वह साधनाके योग्य नही रह जाता । पं० चन्द्रबली पाण्डेने अलाउद्दीनको वेदान्तकी मायाका प्रतीक नहीं माना है । उनके मतसे यहाँ 'माया' 'ऐश्वर्य'के अर्थमे प्रयुक्त हुआ है । (दे० 'हिन्दी कवि-चर्चा', पृ० १३०) । अत हम इस निष्कर्ष पर

पहुँचते हैं कि प्रकारान्तरसे जायसीने भी मायाके दो रूपोंकी ही कल्पनाकी है, जिनमें एक कबीरकी 'सत्य-माया' के, और दूसरा उनकी 'मिथ्या-माया' के अनुरूप हैं।

सत्य-माया जीवको ब्रह्मसे मिलाती है और मिथ्या-माया उन दोनों-का संबंध-विच्छेद कराती है। सत्य-माया सत्त्व-गुण-प्रधान है; उसमें रजोगुण और तमोगुणका सर्वथा अभाव है। मायाके अविद्यामूलक ध्वंसात्मक रूपका कबीरने बड़ा सुन्दर चित्रण किया है—

माया एक ऐसी नारी है, जिसने निखिल विश्वमें अपना जाल पसार रखा है; जिसका भेद न ब्रह्मा पा सके, न विष्णु, न महेश *। वह तो मोहिनी है; नयनोंके तीर खींच-खींच कर चलाती है, जिनसे भागने पर भी छुटकारा नहीं †। रुई आगसे भला कब तक बच सकती है *+। माया महा ठगिनी है। वह सबको ठगती है, मीठी बोली बोल-बोलकर अपने त्रिगुणात्मक फाँसमें सबको फँसाती है ×। वह है तो खाँड़की तरह, पर उसका प्रभाव विषके समान है ††। फिर भी मूढ़ मनुष्य पतंगकी तरह माया-रूपी दीपकमें गिर-गिरकर झुलसता है।

---

* "एकै नारी जाल पसारा, जगमें भया अँदेशा।
खोजत काहू अंत न पाया, ब्रह्मा विस्नु महेसा॥"

† 'कबिरा माया मोहिनी मोहे जान सुजान।
भागे हूँ छूटै नहीं, भरि भरि मारे बान॥"

*+ "वह कब र कस बाँचिहै रुई लपेटी आगि।"

× "माया महाठगिनि हम जानी।
तिरगुन फाँस लिये कर डोलै बोलै मधुरी बानी॥"

†† "कबीर माया मोहिनी जैसे मीठी खाड।"

ऐसे विरले ही हैं, जो गुरु-कृपासे उबर जाते हैं[१]।

लेकिन मायाका एक कल्याणकर रूप भी है। इन दो रूपोंकी दुविधाके कारण उससे बड़ा सँभलकर रहना पड़ता है। माया चाहे तो साधकको उबार ले, चाहे तो डुबा दे। कबीर कहते हैं—

"भेला पाया श्रम सो, भवसागर के माँह।
जौ छाडौं तौ डूविहौ, गहौं तो डसिहै बाँह॥"

—बड़े परिश्रमसे तो भवसागरमें एक आधार मिला है। लेकिन वह भी ऐसा, कि छोड दें तो डूबनेका भय और उसका सहारा ले तो डसे जानेकी सम्भावना।

यह आधार माया है। इसे वशमें करना चाहिये। फिर तो आवश्यकता पडने पर यही वडे कामकी वस्तु सिद्ध होती है—

"माया दासी सत का, ऊभी देइ असीस।
विलसी अरु लातौं छडी, सुमरि सुमरि जगदीश॥"

मायाके विध्वंसात्मक स्वरूपको संतोने मैणी, मोहनी, मजारी, मगर, डंकिणी, साँपणी, पापणी, जाखिणी, कामिनी, भामिनी, कोढ़णी आदि नामोसे संबोधित किया है।

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदीके मतानुसार कबीर की 'माया'···निरंजन की शक्ति है। ब्रह्मांडमें जो माया है, पिण्डमें वही कुण्डलिनी है। कुण्डलिनीका ही नाम माया है, नागिन है, ठगनिया है; और-और भी कई नाम हैं। इसी नागिन की फुफकार प्रणव है। इसी तरह ब्रह्मांडमे

---

[१] "माया दीपक नर पतग,
भ्रमि-भ्रमि माहि परत।
कोई एक गुरु ज्ञान ते
उबरे साधू सत॥"
—कबीर।

जो वस्तु निरंजन है, वही पिण्डमे मन है। उसीको 'नाग' कहते है। इसी 'नाग' और 'नागिन'ने मिलकर यह सारा प्रपंच खड़ा किया है। इसी नागिन की जहरीली फुफकार जो प्रणव है, उसकी उपासनामें दुनिया भटक रही है। इन्हें जो मार सकता है, वही विजयी होता है।" *

सृष्टिके संवधमें कवीरके दार्शनिक विचार किसी एक सिद्धान्त पर आश्रित नही। स्थूल रूपसे उनके छ. विभाग किये जा सकते है।

(१) कई स्थलो पर कवीरने सांख्यशास्त्रियो की तरह तीन गुण, पंचभूत और पच्चीस तत्त्वोसे सृष्टि की रचना वतायी है। पर इनका मूल कर्ता वेदान्तियोका 'परब्रह्म' है, सांख्यशास्त्रियोंका 'पुरुष' नहीं।

(२) एक स्थल पर उन्होने कहा है कि पहले अक्षय पुरुष था। उससे निरंजन की सृष्टि हुई, निरंजनसे त्रिदेव, और त्रिदेवसे त्रिगुणात्मक संसार की। +

(३) ब्रह्मका व्यक्त स्वरूप ओंकार नाद है, जिससे भी सृष्टि की उत्पत्ति कवीरने वतायी है ×। 'शब्द' भी ओंकार का पर्यायवाची है, अत 'शब्द'से सृष्टिका उत्पन्न होना कवीरने कहा है। **

---

* 'कवीर'— प० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

+ "अछै पुरुष एक पेड़ है, निरजन वाकी डार।
तिरदेवा साखा भये, पात भया ससार॥"

× "करता किरतिम वाजी लाई। ओंकार ते सृष्टि उपाई॥
पाँच तत्त तीनो गुन साजा। ताते सव किरतिम उपराजा॥"

अथवा

"ओंकार सवै कोई सिरजै, राग स्वरूपी अग।"

** "साधो शब्द साधना कीजै।
जेही शब्द ते प्रगट भये सव, सोई सब्द गहि लीजै॥
शब्द गुरु शब्द सुन सिख भये, शब्द सो विरला वूझै।

(४) कबीरने ज्योतिसे भी विश्वका आविर्भाव माना है। वह ज्योति स्वयं ब्रह्मसे प्रादुर्भूत हुई है। ज्योति प्रकृतिके सयोगसे सृष्टिका निर्माण करती है †। इस सिद्धान्तपर सांख्यका प्रभाव स्पष्ट है। सांख्य के मतानुसार प्रकृतिने पुरुषके प्रकाशसे सृष्टिकी रचना की है।

(५) एक अन्य स्थानपर कबीर सृष्टिका विकास-क्रम दूसरी तरह से बताते हैं। पहले जीव-रूप वह एक अन्तरमें बसकर ज्योतिका प्रकाश करता था, जिससे इच्छा-रूपी नारीका अवतार हुआ। उसका नाम गायत्री पड़ा। उस नारीके तीन पुत्र हुए—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ब्रह्माने अपनी मातासे पूछा—"कौन तुम्हारा पुरुष है; किसकी तुम नारी हो?" उसने उत्तर दिया—"जो तुम हो, वह मैं हूँ; जो मैं हूँ, वह तुम हो। तुम्ही मेरे पुरुष हो, और मैं ही तुम्हारी स्त्री"। +

सोई शिष्य सोई गुरु महातम, जेहि अन्तरगति सूझै ॥
शब्दै वेद पुरान कहत हैं, शब्दै सब ठहरावै।
शब्दै सुर-मुनि-सत कहत हैं, शब्द भेद नहि पावै ॥
शब्दै सुन-सुन भेष धरत हैं, शब्द करै अनुरागी।
षट् दर्शन सब शब्द कहत हैं, शब्द कहै बैरागी ॥
शब्दै काया जग उतपानी, शब्दै केरि पसारा।
कहै 'कबीर' जहँ शब्द होत है, भवन भेद है न्यारा ॥"

† "अवलि अलह नूर उपाइआ, कुदरति के सभ बन्दे।
एक नूर तो सभु जगु उपजिया, कउन भले को मदे ॥"

+ "जीव रूप यक अतर वासा। अतर ज्योति कीन परगासा ॥
इच्छा रुप नारि अवतरी। तासु नाम गायत्री धरी ॥
तेहि नारीके पुत तिन भयऊ। ब्रह्मा विष्णु शभु नाम धरेऊ ॥
तब ब्रह्मा पूछत महतारी। को तोर पुरुष काकर तुम नारी ॥
तुम हम हम तुम और न कोई। तुम मोर पुरुष हमैं तोर जोई ॥"

तात्पर्य यह है कि पहले पुरुष था; उससे प्रकृति (गायत्री) उत्पन्न हुई। फिर पुरुष और प्रकृतिके संयोगसे जीव हुआ, जो त्रिगुणात्मक है। किंतु तीनो गुणोकी प्रधानता एक जीवमे एक ही समय नहीं हो सकती। कभी सत्त्वगुण प्रधान रहता है, कभी रजोगुण, और कभी तमोगुण। इसलिये यहाँपर एक-एक गुणकी प्रधानताको प्रदर्शित करने वाले प्रतिनिधिके रूपमे ब्रह्मा, विष्णु और महेशकी कल्पनाकी गयी है। अन्यत्र कबीरने कहा भी है कि ब्रह्मा रजोगुण-प्रधान है, महेश तमोगुण-प्रधान, और विष्णु सत्त्वगुण-प्रधान *। सत्व, रजस् और तमस्में से प्रत्येकको प्रधान मानकर ब्रह्मा, विष्णुऔर महेशकी कल्पना भारतीय संस्कृति में यह कोई नयी नही। 'विष्णु पुराण'में लिखा है—

"भूतात्मा चेन्द्रियात्मा च प्रधानात्मा तथा भवान्।
आत्मा च परमात्मा च त्वमेक पञ्चधा स्थित ॥
प्रसीद सर्व सर्वात्मन् क्षराक्षरमवेश्वर।
ब्रह्मविष्णुशिवाद्याभि कल्पनाभिरुदीरित ॥
न यत्र नाथ विद्यन्ते नामजात्यादि कल्पना।
तद्ब्रह्म परम नित्यमविकारि भवानज ॥
न कल्पनामृतेऽर्थस्य सर्वस्याधिगमो यत।
तत कृष्णाच्युतानन्दविष्णुसञ्ज्ञाभिरीड्यते ॥"

—'विष्णुपुराण', अंश ५, अध्याय ५।

सांख्यके अनुसार प्रकृति भी त्रिगुणात्मक है। इसीलिये ब्रह्मा-द्वारा प्रश्न किये जानेपर गायत्री उसको अपनेसे अभिन्न बतलाती है।

(६) कबीरकी एक पुस्तक 'आदि मंगल'मे सृष्टि-रचना विस्तार-पूर्वक बतायी गयी है।

---

* "रजगुन ब्रह्मा तमगुन संकर, सतगुन हरि है सोहि।
कहै कबीर एक राम जपहु रे हिन्दू तुरुक न होहि॥"
—कबीर।

शिष्यने गुरुसे प्रश्न किया कि सृष्टिके आदिमें एकमात्र सत्पुरुष था; फिर उस एक से द्वित्वका विकास कैसे हुआ। सद्गुरुने निम्नलिखित प्रकारसे सृष्टिके आदि-अंतका परिचय दिया—

सर्वप्रथम सात्त्विक या सूक्ष्म सृष्टिका वर्णन किया जाता है। पहले पहल सत्पुरुषके घटमें एक शब्द-स्फोट हुआ। उस शब्द-ब्रह्मसे सात तत्त्वों (अर्थात् आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, तथा सहस्रार चक्र) का विस्तार हुआ।

इसके पश्चात् इच्छा और चित्त अथवा बुद्धिकी उत्पत्ति हुई, और सात मानस-लोकोंकी सृष्टि हुई। शब्द-ब्रह्म ही समस्त सृष्टिका मूल है। और उसीसे पाँच सूक्ष्म तत्त्वोका सृजन हुआ। पाँचोने क्रमशः पाँच अंडो (अर्थात् पाँच गुणो) को जन्म दिया (पृथ्वी—गंध; जल—रस; अग्नि—ताप या रूप; आकाश—शब्द; वायु—स्पर्श)। पाँच तत्त्वोके अनुसार पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भी हैं। दो ज्ञानेन्द्रियाँ (मन और बुद्धि) गुप्त रूपमें हैं। सत्पुरुषने अपनी योग-मायाके प्रभावसे इन्हें गुप्त कर रखा है। श्वासकी प्रगतिके साथ 'सोहं' ध्वनिकी उत्पत्ति होती है। यह ध्वनि अमृतका प्रतीक है। पाँच सूक्ष्म तत्त्वोंसे तीन गुण और पंचभूततत्त्वोका विकास हुआ। सत्पुरुषने ब्रह्माण्डका विस्तार किया और उसकी चोटीपर बैठकर नीचे मर्त्यलोककी ओर देखा। इस प्रेम-दृष्टिसे 'सार' शब्दकी उत्पत्ति हुई, और इस 'सार' शब्दसे सूक्ष्म रूपमें चार प्रकारकी सृष्टि (अंडज, पिण्डज, उष्मज, स्वेदज) हुई, और चार वेदोका विस्तार हुआ।

यहाँ तक तो सत्त्वगुण-विशिष्ट सूक्ष्म प्रकृतिके विस्तारकी चर्चा हुई। अब रजोगुणके समावेशसे सत्पुरुषमें निद्रा, मोह, आलस्य आदिका प्रवेश हुआ, जिसका मर्म समझना बडा कठिन है। इस निद्राका प्रभाव यह हुआ कि शुद्ध निर्माण-बुद्धि दब गयी, और एक काले रंगका अंडा जलमें तैरने लगा (अर्थात् तमोगुणका प्रभाव व्यापक

हुआ)। सत्पुरुषके अंग-रूप जीवात्माके हृदयमें व्याकुलता और संदेह हुआ कि इस अंडेको किसने बनाया, और इसका मूल क्या है। त्रिगुणात्मक अंडेके मुख पर जब सत्पुरुषके शब्दकी मुहर लगी, अर्थात् जब सत्पुरुषकी इच्छासे त्रिगुणात्मक स्थूल सृष्टिका विकास हुआ, तब उस अंडेसे फटकर दसो द्वारोसे वाष्प निकला (ये दस द्वार घटके दसो द्वारोके प्रतीक है)। इस प्रकार निरंजनकी उत्पत्ति हुई, जो तीन लोकोमें कालके समान व्यापक और बली हुआ। इस निरंजनसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश, इन तीनोकी सृष्टि हुई, जिन्होंने मायाके संसर्गसे चतुर्विध सृष्टि (अंडज, पिण्डज आदि)का विस्तार किया। जीव चौरासी लाख योनियोकी अजस्र धारामें बहने लगे। चौदह भुवनोमें चौदह यमोका निवास हुआ, जैसा चारो वेदोका मत है। वस्तुतः एकमात्र वही मनुष्य सुखी है, जो अपनेमें आपको विलीन कर सकता है; और जो उत्पत्ति-प्रलय, सुख-दुःखके चक्रमें पड़ा रहता है, वह आवागमनसे मुक्त नहीं होता। सात चक्र, जो ध्यानके केंद्र हैं, वे ही सृष्टिके मूल है; और उन्हींमे प्रलय भी होता है। उन्हींसे सृष्टिकी उत्पत्ति है, और उन्हीमें यह विलीन भी होती है। जो मनुष्य उस समर्थ सत्पुरुषका ध्यान करता है, वह उत्तम पथको ग्रहण करता है। इससे उसे सत्पुरुषकी उपलब्धि होती है, और वह सोये हुए संसारको जगाता है। सात चक्रोसे भी परे, और षोडश-दल-कमलके भी पार समर्थ सत्पुरुषका लोक है; और वही सभी जीवोकी अंतिम गति है[1]।

---

[1] "प्रथमै समरथ आप रह दूजा रहा न कोय।
दूजा केहि विधि ऊपजा पूछत हौं गुरु सोय॥
तब सतगुरु मुख बोलिया सुकृत सुनो सुजान।
आदि अंतको पारचै तोसो कहौं बखान॥
प्रथम सुरति समरथ कियो घटमें सहज उचार।

'आदि-मंगल' में व्यक्त सृष्टि-रचनाका यह सिद्धान्त उपरोक्त सभी सिद्धान्तोंकी अपेक्षा अधिक जटिल दीख पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है कि विभिन्न स्रोतोंसे अनेक सिद्धान्त लेकर, और कुछ कल्पनाकी सहायतासे सृष्टि-रचनाका एक नवीन सिद्धान्त निर्मित हुआ होगा, जो बदलते-बदलते अपने वर्तमान रूपमें 'आदि-मंगल' में बच रहा है। खोज करने पर इस

तातें जामन दीनिया सात करी विस्तार ॥
दूजे घट इच्छा भई चित मनसा तो कीन्ह।
सात रूप निरमाइया अविगत काहु न चीन्ह ॥
तब समरथके श्रवण ते मूल सुरति भइ सार।
शब्द कला तातें भई पाँच ब्रह्म अनुहार ॥
पाँचो पाँचो अंड धरि एक एक माँ कीन्ह।
दुइ इच्छा तहँ गुप्त है सो सुकृत चित दीन्ह ॥
योगमया यकु कारने ऊजो अच्छर कीन्ह।
या अवगति समरथ करी ताहि गुप्त करि दीन्ह ॥
श्वासा सोहं ऊपजे कीन्ह अमी बंधान।
आठ अंस निरमाइया चीन्हो सत सुजान ॥
तेज अंड आचिन्त्यका दीन्हो सकल पसार।
अंड शिखा पर बैठिके अधर दीप निरधार ॥
ते अचिन्त्यके प्रेम ते उपजे अच्छर सार।
चारि अंस निरमाइया चार बेद विस्तार ॥
तब अच्छरका दीनिया नींद मोह अलसान।
वे समरथ अविगत करी मर्म कोइ नहि जान ॥
जब अच्छरके नींद गै दबी सुरति निरवान।
स्याम बरन इक अंड है सो जलमें उतरान ॥
अच्छर घटमें ऊपजे व्याकुल संशय शूल।

सृष्टि-प्रक्रियाके अनेक अंश खंड रूपमे विभिन्न प्राचीन ग्रंथोमें प्राप्त हो सकते है। उदाहरणार्थ, अंडेसे सृष्टि-कल्पना 'मनुस्मृति'के प्रारंभमें मिलती है। मनुने कहा है--'अनेक प्रकारके जीवोको उत्पन्न करनेकी इच्छासे उस परमात्माने ध्यान करके सबसे पहले अपने शरीरसे जल उत्पन्न किया, और उसमें शक्तिरूप बीज डाल दिया। यही बीज सूर्यकी भाँति चमकने वाला सोनेका एक अंडा-सा बन गया। उससे सभी लोकोंके स्रष्टा ब्रह्मा उत्पन्न हुए।' ** 'आदि-मंगल' में अंडेसे ब्रह्माकी उत्पत्ति

किन अडा निरमाइया कहा अडका मूल ॥
तेहि अडके मुक्ख पर लगी शब्दकी छाप।
अछर दृष्टिसे फूटिया दस द्वारे कढ़ि बाप ॥
तेहि ते ज्योति निरजनै प्रगटे रूप निधान।
काल अपर बलबीर भा तीनि लोक परधान ॥
ताते तीनों देव भे ब्रह्मा विष्णु महेश।
चारि खानि तिन सिरजिया मायाके उपदेश ॥
लख चौरासी धार माँ तहाँ जीव दिय बास।
चौदह जम रखवारिया चारि बेद बिस्वास ॥
आपु आपु सुख सबर मैं एक अडके माहि ॥
उत्पति परलय दुख सुख फिर आवहि फिर जाहि।
सात सुरति सब मूल है प्रलयहुँ इनही माहि।
इनहीमे से ऊपजे इनही माँह समाहि ॥
सोइ ख्याल समरत्थ कर रहे सो अछप छपाइ।
सोइ संधि ले आइया सोवत जगहि जगाइ ॥
सात सुरतिके बाहरे सोरह सखके पार।
तहँ समरथको बैठका हसनकेर अधार ॥"

** "सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधा प्रजा।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥"

नहीं मान कर निरंजनकी उत्पत्ति मानी गयी है, जिससे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तीनों उत्पन्न हुए। अडेसे सृष्टि-कल्पना छान्दोग्य उपनिषदमें भी है। आदित्य ब्रह्म है। पहले यह असत् था। फिर सत् (कार्याभिमुख) हुआ। वह अकुरित हुआ, फिर एक अण्डेमें परिणत हो गया। वह एक वर्ष-पर्यन्त उसी प्रकार पड़ा रहा। फिर वह फूटा और उसके दो खण्ड हो गये, रजत और सुवर्ण। रजत खण्ड पृथ्वी है और सुवर्णखण्ड द्युलोक। उस अण्डेका जो जरायु (स्थूलगर्भवेष्टन) था वही पर्वत है, जो उल्व (सूक्ष्मगर्भवेष्टन) था वह मेघोके सहित कुहरा है, जो धमनियाँ थी वे नदियाँ है तथा जो वस्तिगत जल था वह समुद्र है। फिर उससे आदित्य उत्पन्न हुआ। उसके आविर्भूत होते ही बडे जोरोंका शब्द हुआ और उसी शब्दसे सम्पूर्ण प्राणी और सारे भोग उत्पन्न हुए।'

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदीके मतानुसार इतनी जटिल सृष्टि प्रक्रिया किसी सम्प्रदायमें एकाएक आविष्कृत नहीं हो सकती;

तदण्डमभवद्धैम सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वय ब्रह्मा सर्वलोक पितामह. ।।"—मनुस्मृति (१।१)

' "आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत् । तत्सदासीत्तत्समभवत्तदाण्ड' निरवर्तत् तत्सवत्सरस्य मात्रामशयत तन्निरभिद्यत ते आण्डकपाले रजत च सुवर्ण चाभवताम् ।।१।। तद्यद्रजत सेयं पृथिवी यत्सुवर्ण सा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्व समेघो नीहारो या धमनयस्ता नद्यो यद्वास्तेयमुदक स समुद्र ।।२।। अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्त जायमान घोषा उलूलवोऽनूद-तिष्ठन्त्सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदय प्रति प्रत्यायन प्रति घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा." ।।३।। (अध्याय—३, खण्ड—१९)

और "इसपर खोज करनेसे प्राचीन लोकधर्मका कोई न कोई पहलू अवश्य स्पष्ट होगा।" † द्विवेदीजीकी अबतककी खोजसे हिन्दीमे मंगल नामकी तीन पुस्तकें मिली हैं—'जानकी-मंगल' (तुलसी), 'पार्वती मंगल' (तुलसी), और 'रुक्मिणी मंगल' (नंददास)। तीनोंका वर्णित विषय विवाह है। किन्तु हमारे यहाँ विवाहके अतिरिक्त पुत्रोत्पत्तिके अवसरपर भी मंगल गाये जाते हैं। सृष्टि रचनाके प्रसंगमें हिन्दी साहित्यमे 'आदि मंगल' के अतिरिक्त अन्य किसी ऐसी पुस्तकका अबतक उल्लेख नही हुआ है, जो 'मंगल' नामकी हो। संत कवियोके कुछ पद 'संत-बानी-संग्रह' में 'मंगल' शीर्षकके अन्तर्गत मिलते हैं, जिनमें विवाहपरक भावनाओकी अभिव्यक्तिके साथ-साथ सृष्टि-रचनाका भी किंचित संकेत है ˝। बँगला-साहित्यमें अवश्य ही मंगल काव्यकी एक परंपरा है, जिसका प्रधान विषय स्पष्टतः सृष्टि रचनासे संबंधित है।

---

† 'साहित्य-संदेश' (अक्टूबर, ४६) के 'कबीर पंथी साहित्य का अध्ययन' शीर्षक लेख—प० ह० प्र० द्विवेदी।

˝ "विनती करौ कर जोरि के तुमहि सुनावऊँ।
दाया होय तुम्हारि तौ मंगल गावऊँ॥
देहु ज्ञान परकास तौ सत्त विचारऊँ।
निस-दिन विसरहुँ नाहि मैं सुरति सभारऊँ॥
तुम सब जानत अहहु जनावत हौ सोई।
काया नगर बनाइ किह्यो रचना सोई॥
तेहि का अंत न खोज न गति जानै कोऊ।
नव खिरकी दरवाजा दसव बनायऊ॥
तेहि मंदिल सतपुरुष विराजै नित सोई।
नगरके सुधि सब लेहि दु:ख केहु नहि होई॥
सर्व नगर बस्ती कहुँ खाली नाही।

इस काव्य-परपरामें भी वैसी ही जटिल सृष्टि-प्रक्रिया मिलती है, जैसी कबीरके 'आदि-मगल' में।

अपने रमहि सुभाउ सो आपुहि आही ॥
तेहि मद्धे करि वास विचार तेहि माही।
भटरु भरम मन बूझि अहै कछु नाही ॥
विप्र बिस्वास तब आयो मन्न विचारेऊँ।
सुरति के पितु प्रीतम सो तिन्हहि पुकारेऊँ ॥
सुमति जो ऐसी आइ तबहि सुख पावई।
निर्गुण सो है दूलह तिन्हहि बिआहई ॥
सुमति सुरति की माइ विचारयो सोई।
निरति नेह लगाइ भाग तेहि होई ॥
नाऊ नाम लीन्ह लय लगन धरायऊँ।
नगरमे गगन भवन सो तहँ कों आयऊँ ॥
माडो माया बिस्तार तृन तीनि बनायऊँ।
बाँस बास गुन गूँथ जहाँ तहँ लायऊँ ॥
सहज सेहरा बनि पूरा ते सिर बाँधेऊँ।
चौका चार विचार राग अनुरागेऊँ ॥
पाँच बजावहि गावहि नाचहि ओई।
करहि पचीस सो निरत एक ह्वै सोइ ॥
एक ह्वै कै करहि निर्त तत्त्व तिलक चढावही।
पढहि अनहद सब्द सुमिरत अलख बरहि मनावही ॥
गाँठि जोरी पोढि कै दृढ भँवरि सात फिरावही।
मेंटि दोहाग अनेक विधि कै सोहाग रग रस पावही ॥
सूति रहि सत सेज एकै निरखि रूप निहारऊँ।
चमक मनि झलमलित रवि ससि ताहि छविपर वारऊँ ॥"

—जगजीवन दास।

हमारे मतसे इस पुस्तकका 'आदि-मंगल' नाम साभिप्राय है। मंगल पुत्रोत्पत्तिके अवसर पर भी गाया जाता है। अतः आदि-मंगलमें आदि-सृष्टि (पुत्रोत्पत्ति) की भावनाका निहित होना सर्वथा आकस्मिक और अप्रत्याशित नही।

इस प्रकार सृष्टि रचनाके संबंधमें कबीरके कई सिद्धान्त हैं, जिनकी आपसमें संगति नहीं दीख पडती। फिर भी तत्त्वत इन सिद्धान्तोंके मूल में अद्वैतवादकी भावना व्याप्त है, इसमें संदेह नही; क्योंकि स्थान-स्थान पर वे कहते है कि सृष्टिका अस्तित्व तभी तक है, जब तक जीव जीवन्मुक्त नहीं हो सका है, और अज्ञानके अन्धकारसे आवृत है। सृष्टि सत्य नही, विवर्त है।

जायसीकी सृष्टि-कल्पना पर भी अद्वैतवादकी छाप स्पष्ट है। यद्यपि उन्होंने सृष्टि-रचनाका क्रम शामीमतके ही अनुकूल रखा है, फिर भी उसका मूल-स्रोत भारतीय अद्वैतवादमें देखा जा सकता है। 'अखरावत' में जायसीने जीव और ब्रह्मका पूर्ण अभिन्नत्व तथा ब्रह्मकी सर्वव्यापकता बतलायी है। 'नासदीय सूक्त', 'माध्यमिककारिका', 'छान्दोग्योपनिषद्', तथा 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' की ही तरह 'अखरावट'में भी सृष्टिके पूर्व केवल शून्यका अस्तित्व माना गया है। सृष्टिके पहले केवल पूर्ण पुराण पुरुष था, जो गुप्तसे गुप्त और शून्यसे शून्य था †। ईश्वरकी कलायें ईश्वरमें लीन थीं; उनका सृष्टि रूपमें विस्तार नहीं हुआ था *। उस समय केवल एक था,

---

† "हुता जो सुन्न–म–सुन्न "।
"पूर पुरान पाप नहि पुन्नू।
गुपुत ते गुपुत, सुन्न ते सुन्नू ॥"
—'अखरावट'।

* "मुहमद आपुहि आपु महँ"। —वही

अक्षर, अव्यक्त निराकार। वह अनिर्वचीय था * । उस समय न गगन था, न पृथ्वी, न चन्द्रमा, न सूर्य। था केवल शून्य, अंधकार। अल्लाहने सर्वप्रथम प्रकाश उत्पन्न किया †—उस अल्लाहने, जिसने क्रीड़ाके लिये अकेले ही अठारह सहस्र जीवयोनियोंकी सृष्टि की है ×।

एक बार उस मालिकने ऐसा किया कि नाम रूपमें मुहम्मदका सृजन किया। उनके प्रेम-बीजसे श्वेत और श्याम, दो अंकुर निकले, जिनके पत्तोंसे क्रमशः पृथ्वी और आकाश बने। तत्पश्चात इसी द्वैतके आधार पर सूर्य-चन्द्र, दिवा-रात्रि, पुण्य-पाप, आनन्द-संताप, नरक-स्वर्ग, भले-बुरे, सच-झूठ आदिकी सृष्टि हुई।×× (कहना नहीं होगा कि सृष्टि-

---

* "आखर, सुर, नहि बोल, अकारा। अकथ कथाका कहौ विचारा॥
किछु कहिए तौ किछु नहि आखौं। पै किछु मुहँ महँ किछु हिय राखै॥"

† "गगन हुआ नहि महि हुती, हुते चंद नहि सूर।
ऐसइ अंधकूप महँ, रचा मुहम्मद नूर॥"—वही।

× "आदिहु ते जो आदि गोसाईं। जेइ सब खेल रचा दुनियाईं॥"

× × ×

"एक अकेल न दूसर जाती। उपजे सहस अठारह भाँती,॥"
—वही।

×× "ऐस जो ठाकुर किय एक दाऊँ। पहिले रचा मुहम्मद नाऊँ॥
तेहि कै प्रीति बीज अस जामा। भए दुइ बिरिछ सेत औ स्यामा॥
होतै बिरवा भए दुइ पाता। पिता सरग औ धरती माता॥
सूरुज, चाँद दिवस औ राती। एकहि दूसर भएउ सघाँती॥
चलि सो लिखनी भइ दुइ फारा। बिरिछ एक उपनी दुइ डारा॥
भेटेन्हि जाइ पुन्नि औ पापू। दुख औ सुख, आनंद-संतापू॥
औ तब भए नरक बैकूठू। भल औ मंद, साँच और झूठू॥"
—'अखरावट'।

वर्णनकी यह प्रक्रिया भारतीय साहित्यमें अश्वत्थके रूपक-द्वारा प्रतिपादित सृष्टि-वर्णनसे प्रभावित है।)¹ तदन्तर इवलीन

---

¹ अश्वत्थके रूपक द्वारा सृष्टि-वर्णनकी परिपाटी ऋग्वेद-कालसे चली आ रही है। ऋग्वेद (१-२४-७) में वर्णन है कि वरुण लोकमें एक ऐसा वृक्ष था जिसकी किरणोंकी जड ऊपर (ऊर्ध्व) है और उसकी किरणें ऊपरसे नीचे (निचीनाः) फैलती हैं। अथर्ववेदमें उल्लेख मिलता है कि देवसदन अश्वत्थ वृक्ष तीसरे स्वर्ग लोक (अर्थात् वरुणलोक)में है। (अथर्व ५-४-३ और १०-३९-६)। मुण्डक उपनिषद (३-१) में भी ससार-वृक्ष की कल्पना की गयी है जिस पर दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) बैठे हुए हैं। महाभारतके अन्तर्गत अनुगीतामें इसका विस्तारसे वर्णन मिलता है जो निम्नलिखित है—

"अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कधमयो महान्।
महाहकारविटप इद्रियान्तरकोटर.॥
महाभूतविशाखश्च विशेषप्रतिपिशाखवान्।
सदापर्ण सदापुष्प शुभाशुभ फलोदय॥
आजीव्य सर्वभूताना ब्रह्मवृक्ष सनातनः।
एव छित्त्वा च भित्त्वा च तत्त्वज्ञानासिना बुध॥
हित्वा सङ्गमयान् पाशान् मृत्युजन्यजरोदयान्।
निर्ममो निरहकारो मुच्यते नात्र सशयः॥"

गीताके भी १५ वें अध्यायके प्रारभमें कहा गया है—

"ऊर्ध्वमूलमध शाखमश्वत्थ प्राहुरव्ययम्।
छदांसि यस्य पर्णानि यस्त वेद स वेदवित्॥
अधश्चोर्ध्व प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवाला.।
अधश्च मूलान्यनुसततानि कर्मानुबधीनि मनुष्यलोके॥"

तुलसीदास जीने उत्तरकाडमें लिखा है—

"अव्यक्तमूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।

* (शैतान), आदम † चार फरिश्तो ×, चार भूतो ‡ और पंचभूतात्मक इन्द्रियो †† की रचना हुई। चार भूतो और पंचभूतात्मक इन्द्रियोसे काया बनी, जिसमें अल्लाहने नौ द्वार प्रकट रहने दिये और दसवें (ब्रह्मरंध्र)को बंद रखा। ×× इस प्रकार आदिम मानव आदमकी सृष्टि हुई, जिसके विषयमें अल्लाहने कहा—'यह जग भा दूजा', अर्थात् संसारमें यह दूसरा जगत उत्पन्न हुआ। (तात्पर्य यह कि जो ब्रह्माण्डमें है, वही मनुष्य-पिण्डमें है)। आदमने हौवा (आदिम-नारी) का सृजन किया, और दोनो सुखपूर्वक स्वर्गमें रहने लगे, किन्तु इबलीसके विश्वासघातसे निषिद्ध गेहूँ खा लेनेके कारण वे स्वर्गसे निकाले गये और पृथ्वीपर आये। ÷ हिन्दू-मुसलमान उन्हीकी संतान है। ‡‡

पटकंध साखा पच बीस अनेक पर्न सुमन घने॥
फल जुगल विधि कटु मधुर वेलि अकेलि जेहि आश्रित रहे।
पल्लवत-फूलत नवल नित ससार विटप नमामहे॥"

* "पुनि इबलीस सँचारेउ"— 'अखरावट'।

† "जबही जगत किएउ सब साजा। आदि चहेउ आदम उपराजा॥"

× "पहिलेइ रचे चारि अढवायक"

‡ "भइ आयसु चारिहु के नाऊँ। चारि वस्तु मेरवहु एक ठाऊँ॥"

†† "तिन्ह चारिहु कै मँदिर सँवारा। पाँच भूँत तेहि महँ पैसारा॥"

×× "नवद्वारा राखे मँझियारा। दसवँ मूँदिकै दिएउ केवारा॥"

÷ "आदम हौवा कहँ सृजा, लेइ धाल्हा कविलास।
पुनि तहँवाँ तें काढा, नारदके विसवास॥"

‡‡ "तिन्ह सतति उपराजा, भाँतिहि भाँति कुलीन।
हिन्दू तुरुक दुवौ भये, अपने अपने दीन॥"

जायसीके अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों—जैसे ब्रह्मका स्वरूप *, उसकी सर्वव्यापकता × जीव ब्रह्मका अभिन्नत्व † आदि, पर भारतीय अद्वैत-वादका स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। योगका भी उनपर कम प्रभाव नहीं। 'यत्पिण्डे स ब्रह्माण्डे'का निरूपण करनेके लिये उन्होंने अख-रावटमें एक लम्बा चौड़ा रूपक दिया है; और सातो द्वीप, नवो खंड तथा आठो दिशामे जो कुछ भी है, उसी कायामें ही दिखाया है। ** इसी प्रकार मक्का-मदीना, फरिश्ते-इमाम, चारो किताबें, चारो गुरु आदि इस्लाम धर्मके सारे कर्मकाण्डको जायसीने कायाके ही भीतर देखा है। ×× कायामें ही सब कुछ माननेका विश्वास निर्गुणियोमें परंपरागत रूपमें चला आता है। †† जायसीने यत्र-तत्र इड़ापिंगला, सुषुम्णा, त्राटक,

---

* "अलख अरूप अवरन सो कर्ता"

× "परगट गुपुत सो सरब बियापी"

† "बुन्दहि समुद समान, यह अचरज कासों कहौं।
जो हेरा सो हेरान, मुहमद आपुहि आप महँ॥"

** "सातौ दीप नवौ खंड, आठौ दिसा जो आहि।
जो ब्रह्मंड सो पिंड है, हेरत अंतन जाहि॥"

×× "माथ ऊँच मक्का बन ठाऊँ। हिया मदीना नबीक नाऊँ॥
सरवन, आँखि, नाक मुखचारी। चारिहु सेवक लेहु विचारी॥
भावैं चार फिरिस्ते जानहु। भावैं चारि यार पहिचानहुँ॥
भावैं चारेहु मुरसिद कहऊ। भावैं चारि किताबे पढऊ
भावैं चारि इमाम जे आगे। भावैं चारि खंभ जो लागे॥"
—'अखरावट'।

†† (क) 'एत्थु से सुरसरि, एत्थु से गंगा साअरु।
एत्थु पआग बणारसि, एत्थु से चंद-दिवाअरु॥
खेत्तु-पीठ-उपपीठ, एत्थु महँ भमइ परिट्ठओ।

त्रिकुटी, अनहद नाद और नाभि-कमल आदि का उल्लेख किया है। सिद्धों और नाथ-पंथियोंके शून्यवादको भी जायसीने अपनाया है और महत्त्व दिया है।

इस प्रकार कुल मिलाकर जायसीके दार्शनिक सिद्धान्त शामीमतके एकेश्वरवादके साथ-साथ वेदान्ती अद्वैतवाद, बौद्ध शून्यवाद और नाथ-पंथी हठयोगपर भी आधारित हैं। किन्तु ब्रह्म, प्रकृति और जीव विषयक उनके मूल सिद्धान्त अद्वैतवादसे अधिक अनुप्राणित हैं, इसमे संदेह नही।

देहा सरिसअ तित्थ, मई सुह अण्ण ण दिट्ठओ ॥
सण्ड-पुअणि-दल-कमल-गध केसर वरणाले।
छड्डहु वेणिम ण करहु सो सॉण लग्गहु बढ आले ॥
काय तित्थ खअ जाइ, पुच्छह कुल ईणओ।
वम्ह-विट्ठु तेलोअ, सअल जाहि णिलीणओ ॥
वुद्धि विणासइ मण मरइ, जहि तुट्टइ अहिमाण।
सा माआमअ परम फलु, तहि कि वज्झइ प्राण ॥"

—सरहपा।

(ख) "घट ही भीतर अठ सठी तीरथ कहाँ भ्रमै रे भाई।"

—गोरखनाथ।

(ग) 'कायागढ भीतर देव देहुरा कासी।" —गोरखनाथ।

(घ) "काया माहै गग तरग। काया माहै जमना सग।
काया माहै सुरसती। काया माहै द्वारामती ॥
काया माहै कासी थान। काया माहै करै समान ॥
काया माहै पूजा पाती। काया माहै तीरथ जाती ॥
काया माहै मुनियर मेला। काया माहै आप अकेला ॥
काया माहै जपिये जाप। काया माहै आपै आप ॥"

—दादू।

कबीर और जायसीके अतिरिक्त दादू, रैदास, सुन्दर दास, जगजीवन दास, भीखा, दयाबाई और मलूक दास आदि भी अद्वैतवादको मानते हैं। मनुष्य और परमात्मामें पूर्ण-अद्वैत-भाव है। इसके समर्थनमें सुन्दरदासने लिखा है—

"दूर किया सदेह सब जीव ब्रह्म नहि भिन्न।"

दो का अस्तित्व भ्रमके कारण है—

"सुन्दर भ्रम थै दोय थे।"

और जिस दिन यह भ्रम जाता रहेगा, उस दिनसे केवल ब्रह्मकी ही इयत्ता शेष रह जायगी। आत्मानंदमें लीन दादूको सहज रूप ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ दिखाई ही नहीं देता—

"सदा लीन आनन्दमें सहज रूप सब ठौर।
दादू देखे एक कौ दूजा नाही और॥"

किन्तु सबोंनें ऐसा नहीं माना।

"दादू सब थे एक के सो एक न जाना।
जने जने का ह्वै गया यहु जगत दिवाना॥"

पर ब्रह्मको निर्गुणके रूपमें अपनाकर भी उसे खंड-खंड कर दिया गया। यह अद्वैत-कल्पना संघर्षका कारण बन गयी। एक सम्प्रदाय दूसरेके ब्रह्मको अपने ब्रह्मसे इतर समझने लगा। इसीलिये दादूने कहा है कि धरती, आकाश, सूर्य, चन्द्र, जल, पवन—जो नित्य सेवामें लगे हुए हैं—किसी सम्प्रदाय-विशेषके नहीं। फिर ब्रह्मकी अद्वैत कल्पना सम्प्रदायोंमें विभक्त होकर विकृत क्यों हो!

"ये सब हैं किस पथमे धरती अरु असमान।
पानी पवन दिन रातका चंद सूर रहिमान॥" —दादू।

जब तक द्वैतकी भावना का लोप नहीं होता, तबतक भक्ति नहीं हो सकती। अपनेको खोकर ही 'राम' को पाया जा सकता है।

इस परात्पर पुरुषको पानेके लिये 'नामरुपाद्विमुक्त' होना आवश्यक है—

"यथा नद्य स्यन्दमाना समुद्रेऽस्त गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्पर पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥"

रैदासने भी कहा है—

"आपो गयो तब भक्ति पाई, ऐसी भक्ति भाई,
राम मिल्यो आपोगुन खोयो, रिधि सिधि सबै गँवाई।"

अद्वैतवादका समर्थन करते हुए मलूकदासजी कहते हैं कि ब्रह्मही सब कुछ है। तीनो लोक उसकी माया है, जिसका भेद कोई नही पा सका। ब्रह्म ही पवन है। वही दिन और रात है। वही वृक्ष और कीट-पतंग है। वह दुर्गा भी है और गंगा भी; मुल्ला भी है और काजी भी। वह तीर्थ-व्रत, पंडित बैरागी, सूम-त्यागी, देव-दानव, चोर-बटमार, महावत-हाथी, अश्व-सवार, दास-सरदार, सूर्य-चन्द्र, सब कुछ है। वही कृष्ण है। वही राम है; और दसरथ भी। रावण और कस भी वही है। संसारमें उसीकी ज्योति व्याप्त है। वही पुरुष है, वही स्त्री है *। अर्थात् जगतमें जो कुछ है, वह ब्रह्म है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' द्वित्वकी स्थिति अज्ञानके कारण है, अन्यथा—

'साहब मिलि साहब भये कछु रही न तमाई'।

फिर दो का अस्तित्व हो कैसे सकता है!

---

* "तीनो लोक हमारी माया।
अंत कतहु से कोई नहि लाया॥
छत्तिस पवन हमारी जात।
हमहीं दिन और हमही रात॥
हमही तरुवर कीट पतगा।
हमही दुर्गा हमही गंगा॥
हमही मुल्ला हमही काजी॥

"भीखा केवल एक है किरतिम भया अनंत।"

दयाबाईने भी कहा है—

'जीव ब्रह्म अंतर नहिं कोय।
एकै रूप सर्व घट सोय॥
जग विवर्त सूं न्यारा जान।
परम अद्वैत रूप निर्वाण॥"

तीरथ बरत हमारी बाजी॥
हमही पंडित हमैं बैरागी।
हमही सूम हमी है त्यागी॥
हमही देव हमही दानौ।
भावै जाको जैसा मानौ॥
हमही चोर हमही बटमार।
हम ऊँचे करि चढ़े पुकार॥
हमही महावन हमही हाथी।
हमही पाप पुण्य के साथी।
हमही अस्व हमही असवार।
हमही राम हमी सरदार॥
हमही सूरज हमही चंदा।
हमही भये नंदके नंदा॥
हमही दशरथ हमही राम।
हमरै क्रोध हमरै काम॥
हमही रावन हमही कंस।
हमही मारा अपना बंस॥
जहां तहाँ सब ज्योति हमारी।
हमही पुरुष हमही नारी॥" —मलूकदास।

जग जीवनदास कहते हैं—

"आनदके सिघमें आन वसे तिनको न रह्यो तनको तपनो ।
जस आपुमे आप समाय गये तब आपुमे आपु लह्यो अपनो ।।
जब आपुमे आप लह्यो अपनो तब आपन्वै जाप रह्यो जपनो ।
जब ज्ञानको भान प्रकाश भयो जगजीवन होय रह्यो सपनो ।।"

रैदासने ब्रह्म-मिलनके लिये अष्ट अगोकी कल्पना की है, जिनका मूल रूप तो आज दुर्लभ है, पर गुरु-परपरा-क्रमसे उसका निम्नलिखित रूप प्राप्त है—(१) गृह (२) सेवा (३) सग; ये तीन बाह्य अंग है। (४) नाम (५) ध्यान (६) प्रणति; ये तीन अंतर अंग है। (७) प्रेम (८) विलय या समाधि अर्थात ब्रह्ममें मग्न हो जाना। यह चरम आनन्द या सर्वातीत अवस्था है। कबीरदासको रैदासका यह मार्ग अत्यन्त प्रिय था। इसीलिये उन्होने कहा है—

"सतनमे रैदास सत है।"

विशिष्टाद्वैतवादके समर्थक निर्गुण-संतोमें शिवदयाल और उनके अनुयायी, एवं प्राणनाथ, दरिया साहब (द्वय), दीन दरवेज, बुल्लेशाह आदि संतोके नाम विशेष उल्लेखनीय है। विशिष्टाद्वैतवादके पोषक संतोका मत है कि जीव और परमात्मामें अभेद अवश्य है, किन्तु सर्वतो-भावेन नहीं, केवल अशमात्र ही। परमात्मा समष्टि है, और जीवात्मा समष्टिके अन्तर्गत व्यष्टिके रूपमें विराजमान है। जीवात्मा को शिवदयालने 'सुरत' कहा है, और परब्रह्म को 'राधास्वामी'। दोनोका सबध बतलाते हुए वे कहते है—

"सुरत असका भेद न पाया। सत्तपुरषको आन समाया।।"

शिवदयालके अनुसार जीवात्मामें परमात्माका गुण तो है, लेकिन

कम मात्रामे । प्राणनाथने भी कहा है—

"अन कहूँ इसक बात । इसक सबदातीथ साख्यात ॥

ब्रह्म सृष्टि ब्रह्म एक अंस । ये सदा अनद अतिरग ॥"

दरिया साहब (बिहारवाले) ने भी अपने को 'सत्त स्वीकृत अंस' की संज्ञा देकर अंशांशि भावको व्यक्त किया है। इस विचारधाराके अनुसार जीवात्मा ईश्वर नहीं, बल्कि ईश्वरीय है। वह भटककर संसार मे विचरण करता है, किन्तु मोक्षकी अवस्थामें अपने अंशी परमेश्वरसे जा मिलता है। इन विचारकोंके अनुसार भी सृष्टि असत्य और मायाजन्य है।

इन्हींकी तरह बाबालालने भी अंशांशि-भावका समर्थन किया है, पर उनकी अंशांशि कल्पना शिवदयालसे भिन्न है। इसलिए दोनोंकी मोक्ष संबन्धी धारणाओं में मतभेद दीख पड़ता है। बाबालालके मतसे मोक्षके बाद जीवात्मा और परमात्मा नीर-क्षीरवत् मिल जाते हैं। उनकी कोई अलग सत्ता नहीं रहती। परन्तु शिवदयालके अनुसार जीवात्मा मुक्तिके बाद भी परमात्मा से मिलकर अपने अस्तित्वको बनाये रखता है। इसीलिये उन्होंने जीवात्मा और परमात्माके मिलनको बिन्दु और सिंधुके रूपकमें समझाते हुए 'समाना'के स्थान पर 'धसना' क्रिया का प्रयोग किया है। 'समाना' मे अस्तित्वके सर्वथा लोप होनेकी भावना है, और 'धसना' में अस्तित्व बनाये रखने की। अतएव यह कहना तर्क-सम्मत होगा कि शिवदयाल और उनके अनुयायियोंके मतसे मोक्षावस्थामें परमात्मासे जीवात्माका सभेद मिलन होता है।

भेदाभेदके माननेवालोंमें नानकका नाम विशेष उल्लेखनीय है। आचार्य निंबार्क ब्रह्म और जीवके भेदाभेद या द्वैताद्वैत संबंधके प्रतिपादक हैं। उनके मतमें जीव अवस्था भेदसे ब्रह्मके साथ भिन्न भी है और

अभिन्न भी। पर भेदाभेद मतको माननेवालोसे नानकका स्पष्ट अन्तर यह है कि जहाँ अन्यान्य भेदाभेदी सगुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं वहाँ नानकने निर्गुण-ब्रह्मकी उपासना की है।

प्रकृतिके संबंधमे निर्गुणमतका आधार ग्रथ साख्य है। पर साख्य की-सी वैज्ञानिकताका निर्गुणियोमे सर्वथा अभाव दीख पड़ेगा। सुन्दर दास के जैसे एक-मात्र विद्वान निर्गुणियेने यद्यपि इस विषयमे अपनी मौलिकताका परिचय दिया है, पर इस मौलिकताका क्या आधार रहा होगा, इसका पता नही चलता। साख्यके पच्चीस तत्त्वोके स्थान पर उन्होने चौबीस तत्त्वोकी कल्पनाकी है, और उसका विकास-क्रमभी दूसरे सिलसिले से रखा है। साख्यने सृष्टिको कभी मिथ्या नही कहा, पर अद्वैतवादी होनेके कारण सुन्दर दासजी इसे मिथ्या बतलाते है। निम्नलिखित तालिकासे दोनोका अन्तर स्पष्ट हो जायगा। सुन्दर दासजी का पद है--

"ब्रह्म ते पुरुप और प्रकृति प्रगट भइ
प्रकृति ते महा तत्त्व पुनि अहकार है।
अहकार हू ते तीन गुण सत रज तम,
तमहू ते महाभूत विषय पसार है॥
रजहू ते इन्द्रिय दस पृथक-पृथक भइ,
सतहू ते मन आदि देवता विचार है।
एसे अनुक्रम करि शिष्य सूँ कहत गुरु
सुन्दर सकल यह मिथ्या ससार है॥"

सांख्यके अनुसार सृष्टि—
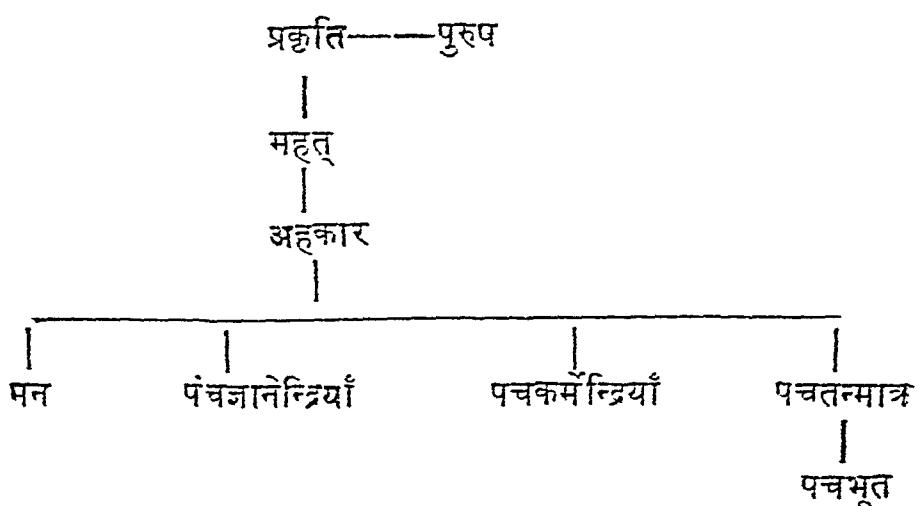
सुन्दरदासके अनुसार सृष्टि—
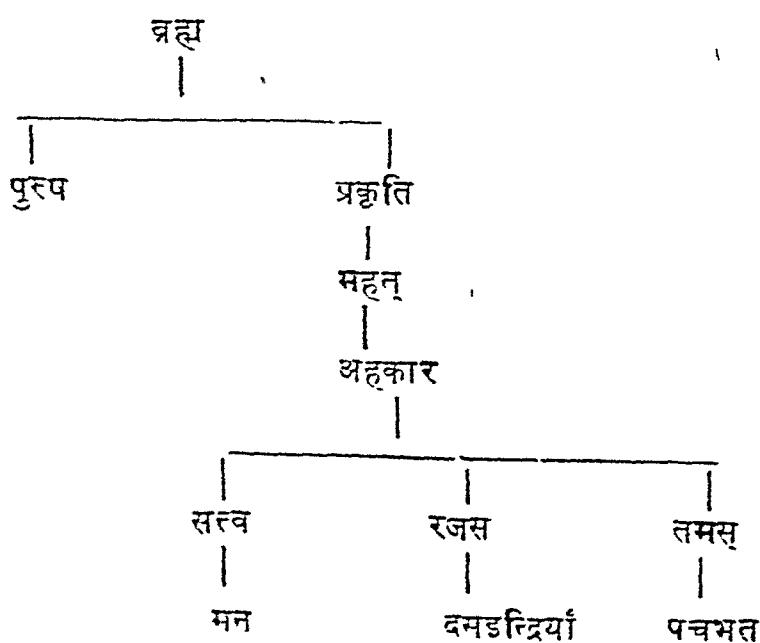
समझमे नही आता, शुक्लजीने क्योकर उपर्युक्त पदमें वर्णित सृष्टि-क्रमको साख्यके अनुकूल बताया है * । अन्यान्य संतोंने भी साख्यके पच्चीस तत्त्व तो लिये, लेकिन उनका क्रम अपने ढगसे रखा है । कहीं-कहीं तो प्रकृतिका प्रयोग भी अर्थान्तरसे किया गया है । दरिया साहब (विहारवाले)ने अनेक स्थलो पर 'तीन', 'पाँच', पच्चीस,' अर्थात तीन गुणो, पाँच तत्त्वो और पच्चीस प्रकृतियोका निर्देश किया है, जिनका विवरण निम्नलिखित है—

तीन गुण—सत्त्व, रज, तम ।

पाँच तत्त्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ।

पच्चीस प्रकृतियाँ—एक तत्त्व की पाँच-पाँच प्रकृतियाँ ।

पृथ्वी—अस्थि, मेद, त्वचा, रोम, नाडी ।

जल—रक्त, वीर्य, पित्त, लार, पसीना ।

अग्नि—आलस्य, तृषा, नींद, भूख, तेज ।

वायु—चलन, गान, सकोच, बल, विवाद ।

आकाश—लोभ, मोह, शका, भय, लज्जा ।

कबीरपथी-साहित्यमे पच्चीस प्रकृतियाँ और ही ढंगसे बतायी गयी हैं । 'कबीर-मन्सूर'के अनुसार पाँच तत्त्वो और तीन गुणोकी देह हसाकी है † । पाँच तत्त्व है धैर्य, दया, शील, विचार और सत्य । तीन गुण है विवेक-वैराग्य, गुरुभक्ति और साधुभाव । मायाके मोहमें पड़कर इन पाँच तत्त्वो और तीन गुणोकी प्रकृतियाँ बदल गयीं । धैर्यसे आकाश, शीलसे अग्नि, विचारसे जल, दयासे वायु और सत्यसे पृथ्वी उत्पन्न हुई । इस प्रकार पक्के गुणसे कच्चे गुण निर्मित हुए, जिनसे जीवके मिथ्या स्वरूपका निर्माण हुआ ।

---

* 'हिन्दी-साहित्यका इतिहास' (पृ० १०२)—सशोधित और परिवर्द्धित सस्करण—प० रामचन्द्र शुक्ल ।

† "ई पाँचो है तत्त्व सो, सगी हसा केर ।
साधु गुरुमत गहन मन, कल्पित सृष्टि हेर ॥"

हंसदेहके पाँच तत्त्व हैं, जिनमें प्रत्येककी पाँच-पाँच प्रकृतियाँ हैं। इन्हीं पच्चीस प्रकृतियोंसे हंसकी पक्की देह बनी है †।

धैर्यकी पाँच प्रकृतियाँ : मिथ्या-त्याग, सत्य-ग्रहण, संशयहीनता, अचलत्व और अहङ्कारनाश।

दयाकी पाँच प्रकृतियाँ अद्रोह, समता, मैत्री, निर्भयता और समदर्शिता।

शीलकी पाँच प्रकृतियाँ · क्षुधानिवारण (तितिक्षा), प्रियवचन, शान्ति वुद्धि, प्रत्यक्ष पारख और प्रत्यक्ष सुख।

विचारकी पाँच प्रकृतियाँ. 'अस्ति-नास्ति' पदका निर्णय, यथार्थ-ग्रहण, व्यवहार-शुद्धि, शुद्धभाव, सचित्तता (ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्ति) करना।

सत्यकी पाँच प्रकृतियाँ. निर्णय, निर्बन्ध, प्रकाश, स्थिरता, और क्षमा।

अन्याय संतोंने भी अनेक स्थलों पर तीन, पाँच, पच्चीसका प्रयोग किया है, जिन पर सांख्यका प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है।

इसके अतिरिक्त योग भी निर्गुणमतके दार्शनिक आधारोंमें महत्त्वपूर्ण है, जिसकी व्याख्या इसी पुस्तकके पिछले परिच्छेदमें की गयी है।

निर्गुण-धाराके दार्शनिक आधारके संबंधमें अंतिम वाक्य कहना जरा कठिन है; क्योंकि संतोंकी अनेक रचनायें प्रक्षिप्त हैं। फिर उनका रचना-क्रम भी ज्ञात नहीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने विधिपूर्वक ऐसा अध्ययन भी नहीं किया है कि उनके दृष्टिकोणमें आद्यन्त सन्तुलन रहे सभी संतोंके विषयमें यह नहीं कहा जा सकता कि वे पहुँचे हुए संत थे, और उनका अनुभूत एवं प्रातिभ ज्ञान तर्क-सम्मत भी होगा। जो पहुँचे हुए संत हैं, उनके दार्शनिक सिद्धांतोंमें अगर असंगति है तो प्रक्षिप्त अंशोंके ही कारण।

† "अब प्रकृति पच्चीस को कहो सुनहु परसंग।
पाँच पाँचते पाँचई, जेहि विधि बाढ़ो अंग॥
इहि पाँचोंकी पचवा, भेद प्रकृति पच्चीस।
हंस देहकी तत्त्व प्रकृति, बूझो विस्वावीस॥"

निर्गुण-साहित्यमें साधु और सद्गुरु

साधु और गुरुका स्थान धर्मप्राण भारतीय जीवनमें अन्यतम है। जीवनके ही ठोस आधार पर साहित्यका प्रासाद खड़ा होता है; अतः वेद, उपनिषद्, स्मृति और पुराणादि धार्मिक साहित्यमें साधु और गुरुका महत्त्व मुक्त कंठसे स्वीकार किया गया है। भिन्न-भिन्न प्रसंगोमें इनकी भिन्न-भिन्न भावनायें हुई हैं। 'साधु' व्यापक शब्द है, और अनेक सर्वथा भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त होता रहा है। पाखंडी-से-पाखंडी, एवं सिद्ध-से-सिद्ध योगी-यती या संन्यासीसे लेकर शान्त स्वभावके गृहस्थ पुरुष तकके लिये इसका प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त, अत्यन्त प्राचीन कालमें राज-दरबारोंके कवि-सम्मेलनोंमें 'मुक़र्रर इरशाद' की भावनाको प्रकट करनेके लिये, या नाटक-गृहोंमें अभिनेता-अभिनेत्रियोंकी कला-कुशलताके साथ-साथ अपनी कला-मर्मज्ञताको व्यक्त करनेके लिये 'साधु' शब्द वीप्साके रूपमें कितनी बार व्यवहृत हुआ है, इसका ठीक-ठीक विवरण दे सकना सर्वथा असंभव है। 'गुरु' की भी यही स्थिति है। विवाहके अवसरपर मंत्रोच्चारके सिलसिलेमें यजमानके नामके बदले 'अमुक' शब्दसे ही काम चलानेवाले वज्रमूर्ख गुरु-महाराजोंकी गणना नहीं की जाय, तो भी 'गुरु' शब्दकी व्यापकतामें कोई अन्तर नहीं आता। अस्त्र-शस्त्रोंके शिक्षक द्रोण और कृप, तथा वेद-वेदांगोंके आचार्य विश्वामित्र और वशिष्ठसे लेकर सूक्ष्म ब्रह्मके उपदेष्टा, 'छान्दोग्य' और 'बृहदारण्यक'के ज्ञानी ऋषि प्रवाहण जैवलि और याज्ञवल्क्य तक— सभी अपने-अपने क्षेत्रोंके मान्य आचार्य हैं; सबोंकी, हमारे यहाँ, 'गुरु' ही संज्ञा है। विश्वकी अन्य किसी भाषामें इतने व्यापक अर्थमें साधु और गुरुके किसी पर्यायका कभी व्यवहार हुआ होगा, इसमें सन्देह है।

अपनी चरम उन्नतिके समय तक वर्णाश्रम धर्मसे अनुशासित भारतीय सभ्यता और संस्कृतिके पुष्पित-पल्लवित होनेका जो एकमात्र सबल आधार रहा है, वह है गुरु। भारतीय जीवनके छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े कार्य-व्यापार पर गुरुकी छाप, उसके वरद हस्तकी मंगलमय छाया स्पष्ट है, जो वैदिक कालकी आदि-सन्ध्यासे प्रारम्भ होकर न्यूनाधिक रूपमें, और प्रकारान्तरसे आज भी हम पर पड रही है। गृहस्थ द्विजके लिये प्रमुख रूपसे उपास्य तीन अग्निदेवोमें एक (आहवनीय अग्नि) से गुरुकी उपमा दी गयी है *। यही नहीं, गुरुको ब्रह्म-स्वरूप कहा है ×, और उसकी सेवामें ब्रह्मलोकका सुख प्राप्त होना बतलाया है †। शास्त्रोमें 'गुरुः साक्षात्परब्रह्म' से लेकर 'सर्वं गुरुमय जगत्' तकका निरूपण किया गया है। अत्यंत प्राचीन कालसे ही संस्कृतज्ञोमें ये श्लोक प्रचलित हैं—

> "गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
> गुरु साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः॥"
> "गुरु पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो गुरुर्गतिः।
> शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन॥"

गुरु माता-पिता ही नहीं, ब्रह्मा-विष्णु-महेश हैं, परब्रह्म है। मुक्ति-दाता स्वयं शिवके रुष्ट हो जानेपर वही रक्षा कर सकता है, पर उसके रूठनेपर साधक का कल्याण नहीं। उपनिषदों और पुराणोमें गुरु-शिष्य-संबंधी अनेक कथायें हैं, जो कागजके निर्जीव पन्नोसे निकलकर जनताकी सजीव वाणीमें आ गयी हैं, और गुरुभक्तिके आदर्श-स्वरूप आज भी जीवित-जाग्रत हैं। कहने का तात्पर्य यह, कि गुरुकी सत्ता और

---

* "गुरुराहवनीयस्तु"—'मनुस्मृति' (२।२३१)।

× "आचार्यो ब्रह्मणो मूर्ति"—'मनुस्मृति' (२।२२६)।

† 'गुरुशुश्रूषया त्वेव ब्रह्मलोक समश्नुते"
—'मनुस्मृति' (२।२३३)।

महत्ता न केवल शास्त्रसम्मत और प्राचीन, वल्कि लोकमान्य भी है।

भक्ति-साहित्यमें—विशेषतः निर्गुण-साहित्यमें—साधकके लिये गुरुकी अतिशय अनिवार्यता प्रतिपादित की गयी है। भक्त-कवि साधक पहले है, कवि पीछे, चाहे उनकी साधना निर्गुण की रही हो या सगुण की, चाहे वे घट-घटमे रमण करनेवाले 'राम'के उपासक रहे हों, या लौकिक, दाशरथी रामके। यह साधनाका तत्त्व सगुण-मार्गसे अधिक 'निर्गुण-मार्गमें प्रधान है, और निर्गुणियोकी उपासना-पद्धतिके मूल सिद्धान्तो पर आधारित है। इन कवियोने कविताको अपनी अनुभूतियोकी अभिव्यक्ति का एक साधन-मात्र रखा, उसे साध्य कभी नही होने दिया। उपासनाके मार्गमे जो अनुभूतियाँ ये संचित करते, उनका सार इस असार संसारको दे जाना इनकी कविता का चरम लक्ष्य था। उपासनाके लिये सर्वप्रथम उपास्यका ज्ञान अपेक्षित होता है। 'विष्णु-पुराण'में ज्ञान दो प्रकार का कहा गया है—शास्त्र-जन्य और विवेक-जन्य। शास्त्र-जन्य ज्ञान शब्द-ब्रह्म का है. और विवेक-जन्य परब्रह्म का*। भारतीय परपरा ब्रह्मज्ञानको सभी प्रकारके ज्ञानसे श्रेष्ठ मानती है, और विवेकज होनेके कारण उसे पोथी-पुस्तकोसे अलग करके देखती है। इस तथ्यको स्पष्ट करनेके लिये 'छान्दोग्य उपनिषद्'में वर्णित नारद और सनत्कुमारकी कथाको दुहरा देना पर्याप्त होगा।

नारदने सनत्कुमारके पास जाकर शिक्षाके लिये प्रार्थना की। सनत्-कुमारने कहा—"जो सीख चुके हो, वह मुझे बताओ; तब मै उससे आगे की बात तुमसे कहूँ"। नारद बोले—"ऋक्, यजु, साम, अथर्व—ये चारो वेद, पचम वेद-रूपी इतिहास-पुराण, जिसके बिना वेदका अर्थ ठीक समझमें नही आ सकता; वेदोका वेद व्याकरण, परलोकगत पितरो से, और इस लोकमें वर्तमान मनुष्योसे परस्पर प्रीति और सहायता

---

* "आगमोत्थ विवेकाच्च द्विधा ज्ञान तदोच्यते।
शब्दब्रह्मागममय परब्रह्म विवेकजम् ॥"—'विष्णुपुराण'।

को बनाये रखनेवाला श्राद्धकल्प; राशि, अर्थात् गणित; दैव, अर्थात् उत्पात-ज्ञान, शकुन-ज्ञान, अथवा दिव्य प्राकृतिक शक्तियोका ज्ञान; निधि, अर्थात् पृथ्वीमें गडे धनका ज्ञान, अथवा आकर-शास्त्र; वाकोवाक्य, अर्थात् तर्कशास्त्र, उत्तर-प्रत्युत्तर-शास्त्र, युक्ति-प्रतियुक्ति-शास्त्र; एकायन, अर्थात् नीति-शास्त्र, राजशास्त्र, जो अकेला सब शास्त्रोंसे काम लेता है; देवविद्या, अर्थात् निरुक्त, जिसमें भूस्थानी मुख्यदेव अग्नि, अंतरिक्षस्थानी सोम (पर्जन्य, विद्युत्, इन्द्र आदि जिसमें पर्यायवत् अन्तर्गत हैं), द्युस्थानी सूर्य, और देवाधिदेव आत्माका वर्णन है, अथवा शब्दकोष; ब्रह्मविद्या, अर्थात् ब्रह्म-नाम वेदकी अंग-विद्या, शिक्षा, कल्प, छन्द आदि; भूतविद्या, अर्थात् भूत-प्रेत आदिकी बाधाको दूर करनेकी विद्या, अथवा अधिभूत-शास्त्र, पंचमहाभूतों-पंचतत्त्वोंके मूल स्वरूप और परिणामों-विकृतियोंका शास्त्र; क्षत्रविद्या, अर्थात् धनुर्वेद, समस्त युद्धशास्त्र; नक्षत्रविद्या, अर्थात् ज्योतिष-शास्त्र; सर्पविद्या, अर्थात् विषवाले जन्तुओंके निरोधकी, और विषके चिकित्सा की विद्या अथवा (सर्पंति चरंति प्राणंति जीवंति इति) वृक्ष, पशु आदि जीव-जन्तुका शास्त्र; देवजन-विद्या, अर्थात् गांधर्व विद्या, चतुःषष्टि कला गीत, वाद्य, नृत्य, शिल्प, सुगंध का निर्माण, सुस्वादु भोज्य पदार्थका कल्पन आदि—यह सब मैंने पढ़ा। पर मुझे ऐसा जान पडता है कि मैंने केवल बहुतसे शब्दोंको पढ़ा। आत्माको, अपनेको नहीं पहचाना। और मैंने आप-ऐसे वंदनीय वृद्ध महानुभावोंसे सुना है कि आत्माको पहचाननेवाला शोकके पार तर जाता है। सो मैं शोकमें पड़ा हूँ। मुझको शोकके पार तारिये।" +

+ 'दर्शन का प्रयोजन'—डा० भगवानदास।

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेद आथर्वणं चतुर्थं इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यं एकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यां एतद् भगवोऽध्येमि।

सारांश यह कि सभी प्रकारकी विद्याओंका सम्यक् ज्ञान एक आत्म-विद्याके ज्ञानके बिना निरर्थक है, व्यर्थ है। 'आत्म' का दर्शन ब्रह्मकी उपलब्धिका प्रथम सोपान है। 'अहं' से पूर्णतया परिचित हुए बिना साधक अपने मूलोद्गमकी ओर किस प्रकार लौ लगा सकता है, कैसे अपने बीज-रूपसे मिलनेकी चेष्टा कर सकता है! प्राचीन ऋषि इसे समझते थे। मध्ययुगीन साधकों ने भी इस तत्त्वको हृदयगम किया था। इसीलिए वे शास्त्र-ज्ञानको तुच्छ बताते हैं। गोरखनाथ ने कहा है—

"पठि पठि पढि केता मुआ, कथि कथि कथि कहा कीन्ह।
वढि वढि वढि वहु कर गया, पारब्रह्म नहि चीन्ह॥"

या "बेदे न सास्त्रे कतेबे न पुराने,
पुस्तके न वँच्या जाई।
ते पद जाना बिहला जोगी,
और दुनी सब धधै लाई॥"

इसी आशयको ध्यान में रखकर कबीर कहते हैं—
"पोथी पढि पढि जग मुआ पडित भया न कोय" या
"काजी कौन कितेब वषानै।
पढत पढत केते दिन बीते, गति एकै नहि जानै॥" या
"पंडित पढि गुन पचि मुए, गुरु बिन मिलै न ज्ञान।
ज्ञान बिना नहि मुक्ति है, सत्त शब्द परमान॥"
दादूका भी कहना है— "एकै नॉव अलाहका पढि हाफिज हूवा"।

शास्त्र-ज्ञान तो निम्न कोटिका ज्ञान है; उससे कोई क्या 'पंडित' होगा। शास्त्रोंमें तो आदिसे अन्त तक विवाद भरा है—

सोऽहं भगवो मन्त्रविद् एव अस्मि न आत्मवित्। श्रुतं हि मे भगवद्-दृशेभ्यः तरति शोकं आत्मविद् इति। सोऽहं भगवः शोचामि। तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु॥" ('छान्दोग्य', अ०७)।

'अप्रत्यक्षाणि शास्त्राणि विवादान्तेषु केवलम्'—

और विवादोके दलदलमें फसा हुआ जड़ मनुष्य भला 'उस' की गतिका ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकता है। यह केवल विवेक-जन्य, या प्रातिभ ज्ञानके आलोकमें ही संभव है। शास्त्रोंसे अज्ञानका अन्धकार कभी नष्ट नही होता—

"न निवर्तते तिमिरं कदाचिद्दीपवार्तया।"

'ऋग्वेद'में कहा है—

"ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदु:
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥"

(१।१६४।३९)।

अर्थात्, आकाश-सदृश अक्षर परम ब्रह्ममें सभी देवता आश्रित होकर अधिष्ठित हैं। उस परमात्माको जो नहीं जानता, वह ऋचाओंसे क्या करेगा? जो उसे जानते हैं, वे कृतार्थ होकर बैठे हैं।

इसीसे मिलते-जुलते भाव पर यह प्रसिद्ध प्रवाद-वाक्य है—

"यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति॥"

यही कारण है कि हमारे शास्त्रोंमें ही शास्त्र-ज्ञानकी स्पष्ट उपेक्षा मिलती है—

"पलालमिव धान्यार्थी त्यजेच्छास्त्राण्यशेषत:"—('पंचदशी')।

यह उपेक्षा केवल हिन्दू-दृष्टिकोणसे ही की जाती रही हो, ऐसी बात नहीं। फारसी सूफियोंने भी पोथी-पुस्तकों को उनके जल्प और वितंडाके साथ-साथ जला डालनेका आदेश दिया है—

'सद् किताबो सद् वरक दर् नार् कुन'—(मौलाना रूमी)।

पोथी-पुस्तकोंकी यह उपेक्षा निर्गुण-मतकी एक बड़ी विशेषता है। इसके मूलमें कई प्रमुख कारण हैं। जैसे—

(१) संत-साधनाके स्वरूपकी प्रयोग-सापेक्षता;

(२) धर्मग्रन्थो की दुर्बोधता एवं जटिलता;

(३) निरक्षरता का वातावरण;

(४) घटमें ब्रह्मको देखनेके कारण मिथ्याडम्बरसे संतों की घृणा, और आडम्बरपूर्ण पंडित-मुल्लाओके द्वारा शास्त्रोके पीछे साम्प्रदायिक पृष्ठभूमि की अवतारणा, और सबसे अधिक

(५) प्रातिभ ज्ञान की सर्वोपरि महत्ता की स्वीकृति।

निर्गुण-मतमें शास्त्रीय ज्ञान की इतनी अवहेलना की गयी है, कि वहां 'ज्ञान' शब्दका प्रयोग ही विवेकजन्य या प्रातिभज्ञानके अर्थमें हुआ है। शास्त्रीय और विवेकजन्य ज्ञानमें यही अन्तर है कि एक बहिर्मुखी है—व्यर्थ किताबोंका बोझ ढोनेवाला, तो दूसरा अन्तर्मुखी—अन्दर की किताब पर आधारित। एकके लिये शास्त्र सहायक है, दूसरेके लिये सद्गुरु। अतः

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्व दर्शिन ॥"—(गीता, ४।३४)।

यही गुरुप्रदत्त ज्ञान सभी ज्ञानोका ज्ञान है, सभी विद्याओकी विद्या है। कहा भी है—,"सा विद्या या विमुक्तये"।

ज्ञानके उपरोक्त दो प्रकारोसे गुरु भी दो प्रकारके है—शिक्षा-गुरु और दीक्षा-गुरु। विवेकज ज्ञानका दान देनेके कारण दीक्षा-गुरुका विशेष महत्त्व है। सच पूछा जाय तो दीक्षागुरु ही वास्तविक गुर है। 'गुरु' शब्दकी व्युत्पत्तिसे भी यह सिद्ध होता है कि गुरु वही है, जो अज्ञानका निवारण करे। और विवेक की उपलब्धि ही अज्ञानका निवारण है। परब्रह्मके ज्ञानके लिये विवेक की उपलब्धि आवश्यक है, और उसके लिये गुरु अनिवार्य। महर्षि पतजलिके अष्टाङ्ग योग †के अनुष्ठानसे भी विवेक उपलब्ध हो सकता है—

† "यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधवोऽष्टावङ्गानि।"

"निर्विकल्प समाधिना स्फुट ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम्।
अन्यथा चलतया मनोगते प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ॥"
—'विवेक-चूड़ामणि'।

निर्विकल्प समाधिके द्वारा ही निश्चित रूपसे ब्रह्मतत्त्वका स्फुट ज्ञान हो सकता है, अन्यथा मन की चचल गतिके कारण वह ब्रह्म-तत्त्व विजातीय प्रतीतियोंसे मिश्रित हो जाता है।

किन्तु निर्विकल्प समाधिके लिये भी योगियोंने गुरुको आवश्यक बताया है। ज्ञानका मार्ग ऐसा साधारण नहीं, जिसपर सर्वसाधारण चल सकें। अनुभवहीन साधकको इस पथ पर अनुभवी पथ-प्रदर्शक ही ले चल सकता है, क्योंकि—

'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति'।*

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सभी ज्ञानोंके सिरमौर आत्मज्ञानके लिये, जिसके आधार पर ही किसी प्रकारकी साधना या भक्ति संभव है, गुरुकी आवश्यकता होती है। निर्गुण-साहित्यमें व्यवहृत होनेवाले 'गुरु' शब्दमें केवल शिक्षक या अध्यापककी भावना नहीं। यहाँ गुरु साधककी उपासनाके मार्गका निर्देष्टा, और उसके जीवनका साकार आदर्श (hero) बनकर उसे ब्रह्म-साक्षात्कारके मार्ग पर ले चलता है। गुरु पर साधकके जीवनकी इस महत्तम समस्याका सर्वाधिक उत्तरदायित्व रहनेके कारण उसका महत्त्व साधना-पंथमें तो अन्यतम है। इस महत्त्वकी अपूर्व झलक निर्गुण-साहित्यमें पद-पद पर देखनेको मिलती है। संतोंने गुरु-उपासनाको अपनी साधनाका अनिवार्य तत्त्व समझा है। 'साधु' 'सद्गुरु' आदि शब्दों की संत-साहित्यमें इतनी अधिक आवृत्ति हुई है कि उनकी विवृति आवश्यक नहीं रह जाती। भारतीय जीवनके इन सुपरिचित शब्दोंका, ज्ञानके आकर शास्त्रोंसे लेकर जनसाधारण से सम्बद्ध निर्गुण-साहित्य तक में प्राय समान महत्त्व है। 'योगवाशिष्ठ' आदि ग्रंथों

* 'कठोपनिषद्' (१।३।१४)।

में दिये गये जीवन्मुक्तोके विवरण, बौद्ध-ग्रन्थोमे वर्णित महापुरुषोके बत्तीस मुख्य और चौरासी गौण लक्षण या अनुव्यञ्जन, गीतामें कथित स्थितप्रज्ञ की पहचान, और 'रामचरितमानस' के सन्त-वर्णन निर्गुण-साहित्यके साधुओके लक्षणोसे कोई तात्त्विक अन्तर नहीं रखते। यदि कहीं अन्तर है भी तो उतना ही, जितना शास्त्रीय प्रणालीका अनुसरण करने वाले और स्वभावतः विकसित मनोवृत्तिके अनुसार चलनेवाले समान दृष्टिकोणके महात्माओमें होना चाहिये; अथवा जितना ज्ञान और भक्तिमेंसे किसी एकको प्रमुखता देनेवाले और ज्ञान-भक्तिका अपूर्व सामजस्य करनेवाले महापुरुषोमें सभव है।

गीतामें भक्त या गुणातीत उसे कहा है, जिससे लोग ऊबते या कष्ट नहीं पाते; जो हर्ष-विषादसे, सुख-दुख और भय-क्रोधसे सर्वथा मुक्त, 'आत्मन्येवात्मनातुष्ट' है; जिसका हृदय त्रिगुणोसे चचल नहीं होता; तथा जो आत्माका ध्यान रखते हुए, साम्य-बुद्धि से, आसक्ति-विहीन होकर अपना कर्त्तव्य-पालन करता है। ये लक्षण कबीर, दादू आदि सतो-द्वारा बताये गये साधुके लक्षणोसे अधिकाशमें मिलते हैं। जिस प्रकार चन्दन का वृक्ष आसपासके सभी वृक्षोको अपनी सुगन्धिसे भर देता है, उसी प्रकार साधु भी अपने दिव्य गुणोके प्रभावसे भक्तको अपने समान बना देता है। इसलिये साधुसगको सभी प्रकारके भक्तों ने ब्रह्म-प्राप्तिके लिये अभीष्ट समझा है। मीराने जो 'साधुसग बैठि बैठि लोक लाज खोयी' थी, उसका यही रहस्य है। मुमुक्षु साधक के लिये संत-समागमका जो महत्त्व है, वह तुलसी की इस पंक्तिसे अच्छी तरह ध्वनित हो जाता है—

"सठ सुधरहि सतसगति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई॥"

साधु-सगतिमें एक अपूर्व रस—प्रेम-रस—प्राप्त होता है, जो अन्य

लौकिक वस्तुओंमें अप्राप्य है ॱ। इस अलौकिक प्रेमका एकमात्र आधार निर्गुण-कवियोंकी शब्दावलीमे 'सुरति' है। सुरतिको उद्बुद्ध करनेमें साधकके लिये साधु और सत्संग की अनिवार्य आवश्यकता कही गयी है। सुरतिके जागरित होने पर जीवमें ब्रह्मके प्रति प्रेम और तन्मयताका आविर्भाव होता है, जिससे 'उस' के ज्ञान की, और अन्तत स्वयं 'उस'की प्राप्ति हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

"तेषा सततयुक्ताना भजता प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोग त तेन मामुपयान्ति ते ॥"—(गीता, १०।१०)।

जिस प्रकार गीतामे भगवानने कहा है कि भक्तो पर दया करके ही मैं ज्ञान-रूपी प्रकाशमय दीपकसे उनके अज्ञान-रूपी अंधकारका नाश करता हूँ ×। उसी प्रकार संत-कवियोंने भी भगवत्प्राप्तिके साधन, साधु–संगति, को भगवत्कृपासे ही संभव बताया है। ईश्वर स्वयं कृपा करके, साधकके मनमे अपना प्रेम जागरित करनेके लिये उसे साधु-संगतिका सुयोग प्रदान करता है †। अतः साधकको परमपदके निकट लानेका श्रेय साधु-सगति को दिया गया है ॱॱ। संत-कवियोंने स्थान-स्थान पर यज्ञ, व्रत, तीर्थ आदिसे साधु और सत्संगतकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है ××। पलटूने तीर्थोंमे कोई फल देखा भी तो है, केवल

ॱ "दादू पाया प्रेम रस, साधू सगति माहि ।
फिर फिरि देखा लोक सब पाया कतहूँ नाहि ॥"

× "तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानज तम ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥"
—गीता (१०।११)।

† "साध मिलै तब ऊपजै, हिरदे हरि का भाव
दादू सगति साध की, जब हरि करे पसाव ॥"—दादू।

ॱॱ "दादू नेडा परमपद साधू सगति माहि ।"—दादू ।

×× "कोटि जग्य व्रत नेम तिथि, साध सग मे होय।

साधुके दर्शनके रूपमें, अन्यथा वे 'तीरथ' को 'अपराध' मानते है ˉ। कुछ और आगे बढकर कबीरने मानव-जीवनमें केवल उन्ही क्षणोको महत्त्वपूर्ण बताया है, जिनमे साधुके दर्शन होते हे, क्योकि उसके दर्शनोसे 'साई' की याद आती है, सुरति जागरित होती है ×। यही कारण है कि साधुको 'निराकारकी आरसी' कहा गया है, और उसके शरीरमें ही अलखके दर्शन किये गये है †। पर इतनेसे कबीरको सन्तोष नहीं। वे साधु और 'साहब' को अभिन्न मानते है, क्योकि ये दोनो मन, वचन और कर्मसे एक ही है ˊ। साधु अपने मन, वचन और शरीर को अगोचर मिश्रशक्तिके प्रति समर्पित किये होता है, इसलिये वह इन पर सासारिक वस्तुओका लेप नहीं होने देता। और वह मनसा-वाचा-कर्मणा एक रहता है—'यन्मनसा ध्यायति, तद्वाचा

विषय व्याधि सब मिटत है, साति रूप सुख जोय ॥"—दयाबाई।

'श्रीमद्भागवत'मे भी कहा है—

"प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशै स्वय ही तीर्थानि पुनन्ति सन्त ।"

(१।१९।८)

या

"न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामया ।

ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधव ॥"(१०।४८।३१)।

ˉ "पलटू तीरथ के गये, बडा होत अपराध ।

तीरथ मे फल एक है, दरस देत है साध ॥"—पलटू।

× "कबीर दरसन साधका, साई आवै याद ।

लेखे में सोई घडी, बाकी के दिन बाद ॥" —कबीर।

† "निराकार की आरसी, साधू ही की देह ।

लखा चहै जो अलखको, इनही मे लखि लेह ॥" —कबीर।

ˊ "साध मिले साहब मिले, अन्तर रही न रेख ।

मनसा बाचा कर्मना, साधू साहब एक ॥" —कबीर।

वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति'। अतः ब्रह्मसे उसका सर्वतो-भावेन तादात्म्य हो जाता है। अपने दिव्य गुणोंके कारण साधु ब्रह्म के साथ एकीभूत हो जाता है, उसमें अपनेको विलीन कर देता है—'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्' ('नारदभक्तिसूत्र', ४१)। श्रुति भी यही कहती है—'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' ('मुंडक', ३।२।९)।

यही कारण है कि निर्गुण-कवियोंने साधु और ब्रह्ममें भेदकी कल्पना तक नहीं होने दी है*। सूफी कवियोंने पीर (गुरु) और खुदाके अभेदके प्रतिपादनके लिये तर्क भी दिये हैं, जिससे उनके इस विश्वासका व्यावहारिक रूप प्रकट होता है—

"मन हमी गोयम् कि पीरे मन खुदास्त,
पेशे मुनकिर ईं सखुन गुफ्तन खतास्त;
यक सवाले मी कुमभ् ऐ मर्दुमान;
पस जवाव ऊरा देहन्द ऐ मोमिनान,
हेजुम अन्दर नार चूँ शुद सोख्ता,
रिश्ता अन्दर जामे शुद चूँ दोख्ता,
पस वरा हे जुम वगोयम् या के नार,
रिश्तारा जामा वगोयम् या के तार,
चूँके पीरे मन फना फिल्लाह शुद,
रफ्त वशरियत हमाँ अल्लाह शुद,
पस वपाये ऊ कुनम् हरदम सजूद,
वक्फ कर्दम दर रेहशजाँने वजूद,

---

* "साधु की सोभा साधु बन आई। नानक साधु प्रभु भेद न पाई।"
—नानक।

"सन्त औ राम को एक कै जानिये
दूसरा भेद न तनिक आनै।" —पलटू।

आशिकी अज जुमले आलम् बरतर अस्त,
जाँके ई मिल्लत खुदाई अकबर अस्त ।"

—अर्थात्, मै कहता हूँ, पीर ही मेरा खुदा है । मुनकिर (अविश्वास करनेवाले) के सामने ऐसा कहना भूल है । ऐ लोगो, मै एक सवाल करता हूँ । ऐ विश्वास करनेवालो, इसका जवाब दो । जब लकड़ी आगमें जल जाती है, जब तागेका कपडा बन जाता है; तब मै उसे आग कहूँ या लकड़ी; तागेको कपडा कहूँ या तागा ? इसी तरह जब मेरा पीर खुदामें मिल गया, तो मनुष्यका वजूद (अस्तित्व) खत्म हो गया; सब खुदाका रूप हो गया । इसलिये मै हरदम उसके कदमोकी बन्दगी करता हूँ । मैने अपनी जिन्दगी और वजूद उसकी राह पर लगा दिया है । प्रेम सारे लोगोसे बढ़कर है, इसलिये यही खुदा की मिल्लत है ।"

—('खडित भारत' : डा० राजेन्द्र प्रसाद)।

कबीर तो साधुको 'परतिप देव' कहते है * । सत गरीबदासने भी सद्गुरु को 'जिन्दा जगदीस' कह कर इसी भावना को व्यक्त किया है † । लेकिन साधुकी प्रशसाको पराकाष्ठा यही नही हो जाती । निर्गुण-साहित्य में साधु-विषयक जो पद मिलते है, उन्हे देखनेसे ऐसा लगता है, मानो प्रशंसा करनेके लिये उनमें परस्पर होड़ लगी हो ।

"रोडा ह्वै रहु बाटका, तजि ममता अभिमान ।
यही बेदका सार है, यही ग्यान विग्यान ।।
रोडा भया तो क्या भया, पथीको दुख देह ।
साधू ऐसा चाहिये, ज्यो जगलका खेह ।।
खेहौ भया तो क्या भया, उड़ि उडि लागत अग ।

---

* "जौ चाहे आकार तू, साधू परतिष देव ।
निराकार निज रूप है, प्रेम भक्ति से सेव ।"—कबीर ।

† "ऐसा सतगुरु हम मिला, है जिन्दा जगदीस ।
सुन्न विदेसी मिल गया, छत्र मुकुट है सीस ।।" —गरीबदास ।

साधू ऐसा चाहिये, पानी जैसा रंग ॥
पानी भया तो क्या भया, ताता सीरा होय।
साधू ऐसा चाहिये, जैसा हरि ही होय ॥
हरि हू भया तो क्या भया हरिसे सब कुछ होय।
साधू ऐसा चाहिये, जाते कछू न होय ॥"

उपरिलिखित उद्धरणोके आधार पर यह आलोचना की जा सकती है कि इस अतिरंजित प्रशंसाके कारण संत-कवि अपने मूलभूत सिद्धान्त—ब्रह्मके निर्गुणत्व—से हट गये हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि साधु ब्रह्म-प्राप्तिका केवल आधार ही नहीं, उसकी प्रेरणा भी है। अपने दिव्य गुणोके कारण वह सहज ही ब्रह्म-तुल्य मान लिया गया है। ऐसी स्थितिमें उसके प्रति अनन्य श्रद्धा-भक्तिका उद्रेक स्वाभाविक है। फिर सामान्यतः प्रत्यक्षको परोक्षसे अधिक महत्त्व देने की मानवी प्रवृति है ही। हमारी समझसे उपरोक्त आलोचनाका इस प्रकार समाधान किया जा सकता है।

निर्गुण-पंथमें साधु की यह महत्ता केवल दार्शनिक रूपमें ही नहीं, व्यावहारिक रूपमें भी स्वीकार की गयी है। कवियोने अत्युक्तिपूर्ण प्रशस्तिके पीछे स्वानुभूत अनुभवका आधार अवश्य ही रखा है। इस सिलसिलेमें यह प्रसिद्ध कथा स्मरणीय है कि साधु-सेवा की अवहेलना करके रुपये बचा लाने पर कबीरने अपने पुत्र कमालको बहुत फटकारा था—

"बूडा बंस कबीरका, उपजा पूत कमाल"।

संत-साहित्यमें साधुके विषयमें जो कुछ मिलता है, उसके आधार पर यह तो निश्चय ही कहा जा सकता है कि वे साधु-संगति को अपनी साधनाका अंग मानते थे। किन्तु साधु और असाधुका निश्चय करना कोई आसान काम नहीं। बहुतेरे असाधु भी 'उदरनिमित्तं बहुकृतवेशः' साधुका वेश बनाये घूमते रहते हैं। ऐसे लोगोसे लाभ होना

सो दूर रहा, लाभके लोभमें मूल भी चला जाता है। इनकी संगतिसे साधक की साधनाके व्यर्थ हो जानेका डर है। अतः संत-कवियोंने अनेक तरहसे साधु और असाधुके लक्षण बताये हैं, जिनके आधार पर एतद्विषयक किसी भ्रम की संभावना नहीं रहे। साधु और असाधुके निश्चय का ज्ञान साधकके लिये कितना आवश्यक है, यह तुलसी की इन पंक्तियोंसे अच्छी तरह समझा जा सकता है—

"सत असतन्हके गुन भाखे।
ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे॥"

साधारणतः अत्यन्त सामान्य वस्तुके लक्षण जानने या बताने की आवश्यकता नहीं पड़ती। लक्षण कहने-मात्रसे किसी वस्तुकी विशिष्टता और उसकी परिमित संख्याका बोध होता है। संसारमें साधु भी बिरले ही मिलते हैं—

"सिहनके लहड नही, हसन की नहि पाँत।
लालन की नहि बोरियाँ, साधु न चलै जमात॥"

अत संत-कवियोंने साधकको साधुकी संगति छोडकर अन्यत्र नहीं जानेका उपदेश दिया है। सत्संगसे रुचि और जगत् से उदासीनता साधना की सफलताके लिये आवश्यक हैं। मीराके 'भगत देखि राजी भइ जगत देखि रोई' का यही रहस्य है। तुलसी साहब भी कहते हैं—

"जो सनमुख रहै सतके, अत कहूँ नहि जाइ।
सुरति डोर लागी रहै, जहँ को तहाँ समाइ॥"

इस प्रकार साधु-संगतिसे सुरति उद्‌बुद्ध तो की जा सकती है, पर साधकको उसे सर्वदा जागरित रखने और अपने साध्यकी ओर उसका नियमन करनेकी आवश्यकता है। यह काम साधुओंकी यदा-कदा संगति कर लेने से ही संभव नहीं। इसके लिये एक अनुभवी साधुकी—एक गुरुकी—आद्यन्त आवश्यकता है।

"For charging the spiritual battery, he (the aspirant) must not depend on chance-meetings with the Sadhus. He must have one dynamo that will supply him with the required current constantly. He must attach himself permanently with one Sadhu. × × × One cannot make the backward journey without the assistance of a guide. × × × He must have a person with him who has already completed his backward journey, and knows its perils and joys." * यहाँ Perils शब्द पर अनुभवहीन साधकके दृष्टिकोणसे विचार किया जाय, तो 'गुरु बिन होहिं कि ग्यान' की सार्थकता स्पष्ट हो जाती है।

अतः प्रत्येक साधकके लिये यह आवश्यक है कि वह सत्संगके सिलसिलेमें अपने लिये एक गुरुकी भी खोज करता रहे। सत्संगका साम्प्रदायिक महत्त्व चाहे जो हो, यही महत्त्व कम नहीं कि इससे गुरु-प्राप्ति का पथ प्रशस्त हो जाता है। यह गुरु साधुओंमें से ही चुना जाता है। पहुँचे हुए साधु ही गुरु होते हैं। अत. दोनो तत्त्वतः भिन्न नहीं। अपने द्रव्य गुणोंके कारण दोनों ही ब्रह्मवत् या उससे भी बढ़कर माने गये हैं —

"साहब से सतगुरु भये, सतगुरुसे भये साध।
ये तीनो अँग एक हैं, गति कछु अगम अगाध॥"

—गरीबदास।

---

* 'The Nirgun School of Hindi poetry'
—Dr. P. D. Barthwal.

फिर भी साधु और सद्गुरुमें कुछ-न-कुछ अन्तर है ही, जैसा उपर्युक्त दोहेमे दिये गये क्रम से स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक सद्गुरु साधु होता है; प्रत्येक साधु सद्गुरु नहीं हो सकता।

"जोगी सिद्ध होइ तव जब गोरखसे भेट"—जायसी।

उसी तरह प्रत्येक योगी सिद्ध नहीं हुआ करता, किन्तु प्रत्येक सिद्ध योगी होता है। योगीको सिद्ध होने के लिये सद्गुरुकी कृपा आवश्यक है। शायद इसीलिये सद्गुरुके प्रति सन्तोंकी अधिक आत्मीयता भी दीख पड़ती है। गुरुके प्रसंगमें संत-कवियोकी भावना किंचित् रागात्मकतासे ओतप्रोत है, जहाँ साधु-विषयक सारी प्रशस्ति नितान्त बौद्धिक लगती है *। कही-कही तो सद्गुरु साधन नही रहकर साध्य हो गये हैं। ऐसे कुछ स्थलोके अतिरिक्त, सामान्यतः भी, साधु और सद्गुरुमे वही अंतर पाया जाता है, जो विद्युत्के क्षणिक आलोक और सूर्यके स्थायी प्रकाशमे है। माया-रूपी अधकारको दूर करनेकी शक्ति दोनोमें है, किन्तु एक क्षणिक है, दूसरा स्थायी; एक में आकस्मिकता है, दूसरेमें नियमितता। विजलीके कौंधनेसे अमावस्याके अन्धकारका विनाश संभव नहीं, पर दिवाकरके प्रकाशमें अन्धकारकी कोई गुंजाइश नही रह जाती। उसी तरह केवल साधु-संगसे साधकको अपने लक्ष्यका भान ही हो सकता है, ज्ञान नहीं; और प्राप्ति तो असंभव ही है। इसके लिये सद्गुरु की अपेक्षा होती है। और सद्गुरु की कृपासे ब्रह्म की उपलब्धि भी असदिग्ध है।

निर्गुण-सन्तोंको गुरु या सद्गुरुकी महिमा पूर्ववर्ती तान्त्रिकों, सहज-यानियो और नाथपंथियोंसे मिली थी, यह तो निश्चित ही है। पर इसमें भी सन्देह नहीं कि अति प्राचीन भारतीय परंपरा भी गुरुको इसी प्रकार महत्त्व देती है। शास्त्रोंमें तो यहाँ तक लिखा है कि 'गुरु' शब्दमें ही

---

* "सतगुरु सम को है सगा, साधु सम को दात"—कबीर।

एक अलौकिक शक्तिका निवास है। गकार ज्ञानसम्पत्ति-रूप सिद्धिका दाता है, रेफ पापदाहक और तत्त्व-प्रकाशक है, और उकार स्वयं महादेव-स्वरूप होकर शिव से तादात्म्य करा देता है* ।

व्यावहारिक रूपसें 'गुरु' और 'सद्गुरु' पर्यायवाची शब्द हैं; और हमारा विचार है कि इनके प्रयोगके मूलमें अर्थ-भेद नहीं, छन्द-पूर्तिकी सुविधा ही रहा करती होगी† । फिरभी 'सद्गुरु' का 'सत्' अंश विचारणीय है। गीताके अनुसार 'सत्' शब्दके दो अर्थ होते हैं—सत्य (स्वतःसिद्ध) और साधु (कल्याणकर) × । 'सत्' के ये दोनों अर्थ ब्रह्ममें सर्वांशतः घटित होते हैं*-* । ब्रह्म ही केवल सत्य है, क्योंकि वह अनादि और अनन्त है††, और सत्य अनादि-अनन्त होता है। वह सबसे बड़ा साधु भी है, क्योंकि सारी सृष्टिका कल्याण करता है। पतंजलिके मतसे

---

* "गकारः सिद्धिद प्रोक्तो रेफ पापस्य दाहकः।
उकार. शम्भुरित्युक्तस्त्रितयात्मा गुरु. स्मृत ॥
गकारो ज्ञानसम्पत्त्यै रेफस्तत्त्वप्रकाशक ।
उकारात् शिवतादात्म्यं दद्यादिति गुरु स्मृत ॥"
—'आगमसार' ।

† उदाहरण के लिये कबीरका यह दोहा ले सकते हैं—
"गुरु पारस गुरु परस है, चदन वास सुबास ।
सतगुरु पारस जीवको दीन्हो मुक्ति निवास ॥"

× "सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते"
—'गीता' (१७।२६)।

- "सदिति निर्देशो ब्रह्मण........" —'गीता' (१७।२३)।
"एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"—'ऋग्वेद' ।

†† "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"
—'छान्दोग्य उपनिषद्' ।

वही आदि-गुरु भी है * । इस दृष्टिसे देखने पर सद्गुरु और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं रह जाता । निर्गुण-सन्तोंने बार-बार गुरुको ब्रह्मके समकक्ष स्थान दिया है । अतः गुरुका 'सत्' विशेषण सर्वथा उपयुक्त है ।

मध्ययुगीन भक्ति-साहित्यमें निर्गुण और सगुण, दोनों ही काव्य-धाराओंकी निर्मल स्रोतस्विनी गुरुके यशगानका कलकल स्वर लिये प्रवाहित हो रही है । पर दोनोके स्वरोंमें आद्यन्त समान संगीत नहीं मिलता । घटमे अलखके दर्शन करानेवाले गुरु, और 'पैज पडे प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन ते न हिये ते' का सिद्धान्त प्रतिपादित करनेवाले गुरु के माहात्म्यमें अन्तर होना स्वभाविक ही है । यों तो तुलसी और सूरने भी अन्तःस्थ ईश्वरके दर्शन, † जगत् के अंधकारके नाश × और क्षणमें भवसागरसे उद्धारको** गुरु-कृपासे ही संभव बताया है । तुलसीने गुरुकी चरण-रजकी उपमा 'संभुतन-विमल विभूति' से दी है । दोनों ही महाकवि गुरुको ईश्वर-तुल्य मानते हैं †† । मीराने भी 'श्याम' को गुरुके प्रतापसे

---

* दादूने भी ब्रह्मको 'जगत गुरु' कहा है—

"जहाँ जगत गुरु रहत है, तहाँ जो सुरति समाइ ।
तौ इन नैनेहु उलटि करि, कौतिक देखे आइ ।।"

† "वन्दे वोधमय नित्य गुरु शङ्कररूपिणम् ।
याभ्या विना न पश्यन्ति सिद्धा स्वान्त स्थमीश्वरम् ।।"
—'रामचरितमानस' ।

× "श्री वल्लभ-नख-चन्द्र-छटा विनु सव जग माझि अँधेरौ ।"
—'सूरसागर' ।

** "गुरु बिन ऐसी कौन करै ।

× × ×

'सूर' स्याम गुरु ऐसो समरथ छिनमे ले उधरै " —'सूरसागर' ।

†† "बन्दौ गुरु-पद-कंज, कृपासिन्धु नर-रूप-हरि "—'रामचरितमानस' ।

"और चत्रभुजदास हू ठाढे हुते । तब चत्रभुजदासने कह्यौ जो

ही पाया है† । किन्तु अनेक स्थलों पर उसके 'श्याम' और गुरु भी अभिन्न दीख पड़ते हैं ‑ । यहाँ सूर-तुलसीके साथ मीराकी पंक्तियों पर ध्यान दिया जाय, तो उनसे सिद्धान्ततः कोई अन्तर नहीं रहने पर भी विषयके प्रतिपादनकी दृष्टिसे बहुत अन्तर मिलेगा। क्योंकि मीरा विशुद्ध सगुणवादी नहीं; उसपर निर्गुणिये रैदासका स्पष्ट प्रभाव है। निर्गुणियोंने जहाँ कहीं भी गुरु और ब्रह्मका अभिन्नत्व प्रतिपादित किया है, उनमें हृदय-पक्ष ही सर्वस्व रहा है; और सगुणियोंमें बुद्धि-पक्ष। सत्य के अधिक समीप आनेके लिये हम कह सकते हैं कि जहाँ निर्गुण-भक्त गुरुको ब्रह्म मानकर प्रेमकी तन्मयतामें उसके चरणों पर अपना 'सीस चढ़ाने' के लिये प्रस्तुत हो जाते हैं, × उस पर अपने को न्योछावर कर देते हैं, वहाँ सगुण-भक्त श्रद्धाके पुष्प लिये खड़े रह जाते हैं। प्रेम

सूरदासजीने बहुत भगवतजस वर्णन कीयौ । परि श्री आचार्य जी महाप्रभूनकी जस वर्णन ना कीयौ । तब यह वचन सुनि कै सूरदासजी बोले, जामे तो सब श्री आचार्य जी महाप्रभून को ही जस वर्णन कीजौ है । कछु न्यारौ देखूँ तो न्यारौ करूँ ।"

—'चौरासी वैष्णवनकी वार्ता', पृष्ठ २८८।

† "स्याम तेरी आरति लागी हो ।
गुरु परतापे पाइया, तन दुरमति भागी हो ॥"—मीरा ।

‑ "मिलता जाज्यो हो गुरु ज्ञानी ।
थाँरी सूरत देखि लुभानी" ॥"—मीरा ।

× "चरन कँवल सतगुरु दिया हम सीस चढाई"—धरमदास ।
"देखि नैनन चाखि अमृत रहिय ह्वै मस्तान ।
जगजीवन सतगुरु चरनन सीस करु कुरबान ॥"

—जगजीवनदास ।

"गुरु मग पग दृढ राखिये, डिगमिग डिगमिग छाँड़ ।
सहजो टेक टरै नहीं, सूर सती ज्यो माँड़ ॥

और श्रद्धामें जो अन्तर है, स्पष्टतः वही अन्तर निर्गुण और सगुण-मतकी गुरु-भावनामें समझा जा सकता है।

निर्गुण-सन्तोंने गुरुके दो प्रकारोका उल्लेख किया है— गुरु या 'सतगुरु', और परम गुरु या 'जगत-गुरु'। कहीं-कही 'गुरु' या 'सतगुरु' से भी 'परम गुरु' का तात्पर्य व्यक्त किया गया है, तथापि दोनोमे अन्तर है। इन दो प्रकारोको स्पष्टतः स्थूल गुरु (मनुष्य) और सूक्ष्म गुरु (परब्रह्म) के रूपमें समझ सकते हैं। साधनाकी एक विशेष स्थिति तक स्थूल गुरुकी अनिवार्य आवश्यकता होती है। उस स्थिति तक पहुँच जानेके बाद साधक, अन्तःकरणमें ही, सूक्ष्म गुरुके रूपमें ब्रह्म के दर्शन करता है †। संत-साहित्यमें जो कहीं-कही गुरुको ही ब्रह्म

---

† कबीर कहते हैं—

"अब गुरु दिलमें देखिया, गावनको कछु नाहि।
कबिरा जब हम गावते, तब जाना गुरु नाहि॥"

अर्थात्, अब मैंने हृदयमें ही गुरुके दर्शन कर लिये। अब गाने (प्रशंसा करने) को कुछ नही रह गया। जब तक हम गाते (प्रशंसा करते) थे, तब तक हमने गुरु (सूक्ष्म गुरु) को समझा नहीं था।

[यहाँ 'अब' शब्दका प्रयोग ध्यान देने योग्य है। इसके आधारपर कहा जा सकता है कि साधना की एक विशेष स्थितिमे पहुँच जाने पर ही सूक्ष्म गुरु हृदय में दर्शन देते हैं।]

दादूने भी कहा है—

"मझे चेला मझि गुरु मझे ही उपदेस"।

"सत-मत में यह मान्यता है कि हृदयमें गुरुके लिये तीव्र वेदना होने पर स्वय परमात्मा ही गुरु-रूपमे आ जाते हैं"

—'सन्त-साहित्य' प० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'।

गुरुके देहावसानके पश्चात् जिस किसी सतने भी गुरुका वर्णन

मानकर उसे साधनाका चरम लक्ष्य बना दिया गया है, उसका यही रहस्य है। पर वास्तविकता यह है कि ऐसे स्थलों पर गुरुमें ब्रह्मका आरोप नहीं हुआ, बल्कि ब्रह्म की ही सूक्ष्म गुरुके रूपमें अवतारणा हुई है। अनुपातमे ऐसे अंग कम है, क्योकि इस प्रकारकी अनुभति इने-गिने और पहुँचे हुए संतोंको ही संभव है।

किया है, उसने उसके सूक्ष्म, ब्रह्मरूप की ही चर्चा की है, क्योकि उसका स्थूल शरीर तो नष्ट हो चुका है। इस प्रकार भी एक ही गुरुके विषयमें दो प्रकारकी भावनाये देखी जा सकती है। अपने गुरु कवीरके विषयमे सन्त गरीवदास ने कहा है—

"जिन्दा जोगी जगतगुरु, मालिक मुरसिद पीर।
दुहू दीन झगडा मचा, पाया नही सरीर ॥"

['श्रीमद्भागवत' के अष्टम स्कन्धके २४ वे अध्यायमे इसपर वहुत जोर दिया गया है कि जीवको परमगुरुके रूपमे परमात्माको ही वरण करना चाहिये। मायामे लिप्त मनुष्य भला दूसरेका उद्धार क्या कर सकता है।]

† "कबिरा हम गुरु रस पिया, वाकी रही न छाक।
पाका कलस कुम्हार का, वहुरि न चढ़सी चाक ॥"

—कबीर।

"सव गुण रहिता सकल वियापी, बिन इन्द्री रस भोगी।
दादू ऐसा गुरु हमारा, आप निरजन जोगी ॥"

—दादू।

"अमर गुरु के आसन रहिये, परम जोति तहँ लहिये।
परम तेज सो दिढ करि गहिये, गहिये लहिये रहिये ॥
मन पवना गहि आतम खेला, सहज सुन्नि घर मेला।
अगम अगोचर आप अकेला, अकेला मेला खेला ॥
धरती अंवर चन्द न सूरा, सकल निरतर पूरा।

सामान्यतः सभी सन्तोंकी गुरु-भावना स्थूल, लौकिक गुरुसे ही संबंध रखती है। सन्तोंने जो कुछ भी कहा है, उसके अस्सी प्रतिशत अंशमें गुरुका किसी-न-किसी रूपमें अवश्य उल्लेख है। जिन पदोंमें यह उल्लेख अधिक प्रत्यक्ष हुआ है, उनमें कवियोंका मुख्य ध्येय कृतज्ञता-

---

सबद अनाहद बाजहि तूरा, तूरा पूरा सूरा ॥
अबिचल अमर अभय पद दाता, तहाँ निरजन राता।
ज्ञान गुरु ले दादू माता, माता राता दाता ॥"
—दादू।

"मेरा गुरु आप अकेला खेलै।
आपै देवै आपै लेवै आपै द्वै कर मेलै ॥
आपै आप उपावै माया, पच तत्त करि काया।
जीव जनम ले जग में आया, आया काया माया ॥
धरती अबर महल उपाया, सब जग धधै लाया।
आपै अलख निरजन राया, राया लाया उपाया ॥
चंद सूर दोइ दीपक कीन्हा, राति दिवस करि लीन्हा।
राजिक रिजक सबनि कौ दीन्हा, दीन्हा लीन्हा कीन्हा ॥
परम गुरु सो प्राण हमारा, सब सुख देवै सारा।
दादू खेलै अनत अपारा, अपारा सारा हमारा ॥"
—दादू।

"जहाँ जगतगुरु रहत है, तहाँ जो सुरति समाइ।
तो इन नैनेहुँ उलटि करि, कौतिक देखे आइ ॥"
—दादू।

"ऐसा सतगुरु हम मिला, तेजपुंज का अग।
झिलमिल नूर जहूर है, रूप रेख नहि रंग ॥"
—गरीबदास।

"समुझि डोरी नाम की गहि, गगन कीन्ह पयान।

प्रकाश रहा है; और इसमें सन्देह नहीं कि यही कृतज्ञता स्यानुरूप बड़े ऋणका भी मनोवैज्ञानिक प्रतिदान उपस्थित करती है। इसके अतिरिक्त अनेक पदोंमें प्रकारान्तरसे जो गुरुकी चर्चा हुई है, उससे भी यह स्पष्ट व्यंजना होती है कि संत-कवियोंके जीवनके प्रत्येक पहलू पर गुरुका गहरा प्रभाव है। गुरु और शिष्यकी परंपरा पर ही निर्गुण-मत का सारा ज्ञान, सारी भक्ति और साधना निर्भर करती रही है*। सभी धर्मोंकी तात्विक अभिन्नताकी शिक्षासे लेकर अलक्ष्य, अगोचर ब्रह्मके दर्शन तकके लिये एकमात्र गुरु ही निर्गुणियोंका आधार रहा है। अतः गुरु पर अपना समस्त भार देकर स्वयं निश्चिन्त होकर उसका अनुगमन करना ही संतोंको श्रेयस्कर प्रतीत हुआ है, और यही उन्होंने किया भी है। अपना सर्वस्व गुरुके अर्पण कर देने और उसके उपदेशोंको ही निरति-मार्गका संवल समझनेकी प्रवृत्ति सभी संतोंमें समान रूपसे देखी जाती है। गुरु साधकका सर्वस्व है; उसके लिये गोचर-अगोचर जो कुछ है, सब गुरु ही है†। निर्गुण-

---

जगजिवन गुरुके पास पहुँचे, निरखि तकि नियनि ॥"—जगजीवनदास।

"आरति सतगुरु समरथ तोरी। कहँ लगि कहौ केतिक मति मोरी ॥
सिव रहे तारी लाइ न जाना। ब्रह्मा चतुरमुख करइ बखाना ॥
सेस गनेस औ जपत भवानी। गति तुम्हरी प्रभु तिनहु न जानी ॥"
—जगजीवनदास।

"सतगुरु ब्रह्म-सरूप है, मनुष भाव मत जान।
देह भाव जाने दया, ते नर पसू समान ॥"—दयाबाई।

* निर्गुणिये सन्त 'गुरु' नानकके द्वारा 'सिख' (= सिष = शिष्य)-मतकी स्थापनामें यही तथ्य सन्निहित है।

† दादूने कहा है—

बाबा गुरमुख ज्ञाना रे, गुरमुख ध्याना रे ॥
गुरमुख दाता गुरमुख राता, गुरमुख गवना रे।

कवियोका मत है कि साधकको गुरु ईश्वरकी कृपासे ही प्राप्त होता है * । यह गुरु अपने प्रयत्नोसे मुमुक्षु साधकमे आमूल परिवर्तन करके उसे जीवन्मुक्त बना देता है, जिससे वह ब्रह्मको पा सके † । इस परिवर्तनका प्रथम चरण है—माया या अविद्याका नाश । गुरु-उपदेशसे मायाके नष्ट होनेकी धारणा प्राचीन कालमे भी उसी प्रकार मान्य थी, जिस प्रकार मध्ययुगमें । इस विषयमें निर्गुणियो और अद्वैत-वेदान्तियोमें बहुत-कुछ विचार-साम्य है × । कबीरने कहा है—

"कबीर माया मोहनी, जैसे मीठी खांड़ ।
सतगुरु की किरपा भई, नहिं तो करती भांड़ ॥"

यह मोहिनी माया मीठी खाँड़के समान है । गुरुकी कृपा नहीं होती तो यह सब चौपट कर देती ।

गुरमुख भवना गुरमुख छवना, गुरमुख रवना रे ॥
गुरमुख पूरा गुरमुख सूरा, गुरमुख बाणी रे ।
गुरमुख देणाँ गुरमुख लेणाँ, गुरमुख जाणी रे ॥
गुरमुख गहिवा गुरमुख रहिवा, गुरमुख न्यारा रे ।
गुरमुख सारा गुरमुख तारा, गुरमुख पारा रे ॥
गुरमुख राया गुरमुख पाया, गुरमुख मेला रे ।
गुरमुख तेज गुरमुख सेज, दादू खेला रे ॥"

* "आये गुरुदेव सजन पठये भयो हरष अपार हो ।"—धरमदास ।
वीरभान अपने गुरुको ईश्वरेच्छाका अवतार मानते थे । अत ये उन्हे 'मालिक का हुकुम' लिखते थे ।

† "आपा मेटि जीवत मरे तब पावे करतार " —कबीर ।

× उपनिषदोके और शकराचार्यके मतानुसार जीव अनादि-कालीन अविद्या (माया)-जनित स्वप्नमें सोया रहता है । शंकरने

यह माया वेश-परिवर्तन करके अनेक वार कबीरको मोहित करने आ चुकी है। लेकिन उनपर गुरुकी छत्रछाया जो थी ! माया कुछ

'माडूक्यकारिका' में कहा है—

"योऽयं संसारी जीव. स उभयलक्षणेन तत्त्वाप्रतिबोधरूपेण बीजात्मनान्यथाग्रहणलक्षणेन चानादिकालप्रवृत्तेन मायालक्षणेन स्वप्नेन ममायं पिता पुत्रोयं नप्ता क्षेत्र पशवोऽहमेतेषा स्वामी सुखी दु खी क्षयितोऽहमनेन वर्धितश्चानेनेत्येवप्रकारान् स्वप्नान् स्थानद्वयेऽपि पश्यन् सुप्त ।"

(यह आवागमन-लिप्त जीव दो प्रकारके स्वप्नोंमे प्रवृत्त रहता है—तत्त्वका अज्ञान-रूपी स्वप्न, और उससे उत्पन्न मिथ्या ज्ञान-रूपी स्वप्न। इस अनादिकालीन माया-जनित स्वप्नमे अभिभूत जीव अनेक प्रकारके दृश्य देखता है—यह मेरा पिता है, यह पुत्र है, यह पौत्र है; यह मेरा खेत, ये मेरे पशु है, इसने मुझे नष्ट कर दिया, उसने मुझे बढ़ाया आदि।)

और जब परम कारुणिक गुरु उसे समझाता है कि तुम कारण और कार्यसे नही बने, तुम तो ब्रह्म-स्वरूप हो, तब जीवको अपने स्वरूपका ज्ञान होता है—

"यदा······परमकारुणिकेन गुरुणा नास्येवं त्वं हेतुफलात्मकः किन्तु तत्त्वमसीति प्रतिबोध्यमान. तदैव प्रतिबुध्यते ।"

'ऐतरेय'मे शंकरने निद्राभिभूत मनुष्यके कानोके पास जोरसे नगाड़ा बजानेके दृष्टान्त-द्वारा गुरुके उपदेश की महत्ता बतायी है।

शंकर-द्वारा प्रतिपादित आचार्यके डिंडिमघोषसे अनादिकालीन माया-जनित स्वप्नसे जीवका अकस्मात् जग पडना वैसा ही है, जैसा मध्ययुगीन संतोके मतानुसार सद्गुरुप्रदत्त ज्ञानसे मायाका नष्ट हो जाना।

नहीं कर सकी, और अन्तमें उसने उन्हें प्रणाम किया।

"कबीर आई मुझहि पहि, अनिक करे करि भेसु।
हम राखे गुर आपने, उन कीन्हों आदेसु ॥"

इसी तथ्यको कबीरने दीपक और पतंगके रूपकमें उपस्थित किया है। माया-रूपी दीपकमें जलनेसे मनुष्य-रूपी पतंग बच नहीं सकता। एक-आध 'उबर' जाते है, तो गुरुके ज्ञानसे ही।

"माया दीपक नर पतँग, भ्रमि भ्रमि माँहि परंत।
कहै कबीर गुरु ज्ञान ते, एक आध उबरंत ॥"

मायाके नशेमें उन्मत्त जीवको जगाकर गुरु उसे ज्ञान और भक्तिका दान देता है×। मायाके नाशसे ज्ञान या विवेककी उपलब्धि, और उससे भक्तिका आविर्भाव होता है। आत्म-साक्षात्कार, 'आतम उतिम देव' के दर्शन, या दूसरे शब्दोंमे, ब्रह्मके साथ अपने सम्बन्ध और स्थितिसे अवगत रहना ही ज्ञान है, जिसके आधार पर सुरति जागरित और उद्बुद्ध होती है, हृदयमें 'उस'के मिलन की तीव्र अभिलाषा आ जाती है। यही अभिलाषा भक्तिका प्राण है। मायाका निवारण करके इसका पथ प्रशस्त करनेके लिए निर्गुण-मतमें गुरु ही एकमात्र साधन कहा गया है।

जहाँ शांकर मतके 'आचार्य' के उपदेशका डिंडिमघोष मायाभिभूत जीवको जगाता-भर है, वहाँ निर्गुण-मतके 'गुरुमुख'से उच्चरित शब्द-साधनाका उपदेश साधकके आध्यात्मिक जीवनका एकमात्र संबल बन जाता है। शब्दकी ही सीढ़ी पर चढ़कर साधकका मन गगनमंडलमें

× "माया का रस पीयकर, हो गये डावाँडोल।
ऐसा सतगुरु हम मिला, ज्ञानजोग दिया खोल ॥"
"मायाका रस पीयकर, हो गये भूत खवीस।
ऐसा सतगुरु हम मिला, भग्ति दई बकसीस ॥"
—गरीबदास।

जाकर अमर प्रेमका स्वाद प्राप्त करता है — उस गगनमंडलमें, जहाँ मीराके शब्दानुसार 'पियाकी सेज' है। निर्गुण-मतमें नामस्मरणको बड़ा महत्त्व दिया गया है †। यह 'नाम' गुरुमुखसे ही प्राप्त होना चाहिये; तभी वह प्रामाणिक और प्रभावोत्पादक होता है ×। दादूने कहा है कि साधु सुरतिको जागरित करता है, और सद्गुरु शब्दकी दीक्षा देता है; इस प्रकार मेरा मालिक दया करके मेरे अन्तरमें विरह उत्पन्न कर देता है ‡। यही विरह निर्गुणियोंकी साधना है; यही नाम उनकी भक्तिका आधार है। इस प्रकार निर्गुण-भक्ति-मार्गके जो दो मूलभूत उपादान हैं, उनकी योजना करनेमें साधु और सद्गुरुकी अनिवार्यता सिद्ध होती है।

साधनाके कठिन मार्गमें जीवका एकमात्र आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक गुरु ही है। यद्यपि विवेककी उपलब्धिके बाद ब्रह्म-प्राप्तिकी भावना जीवमें प्रबल हो उठती है, तथापि मायाके भुलावेमें आकर वह प्रायशः अपना विवेक खो बैठता है। अपनेको विरक्त कहनेवालोंका भी षड्-

---

— "यह मन गगन मंदिल राखु।
सब्दकी चढ देखु सीढी, प्रेम रस तहँ चाखु॥"
—जगजीवनदास।

† "नाउँ रे, नाउँ रे, सकल सिरोमणि नाउँ रे।
मैं बलिहारी जाउँ रे॥
दूतर तारै, पार उतारै, नरक निवारै नाउँ रे॥
तारणहारा, भौजल पारा, निर्मल सारा नाउँ रे॥
नूर दिखावै, तेज मिलावै, जोति जगावै नाउँ रे॥
सब सुख दाता, अमृत राता, दादू माता नाउँ रे॥" —दादू।

× "एकै अच्छर पीवका, सोई सत करि जाणि।
राम नाम सतगुर कहा, दादू सो परवाणि॥" —दादू।

‡ "साध सपीडा मन करै, सतगुरु सबद सुणाइ।

रिपुओके चक्करमें पड़कर शतमुखी पतन होते देखा गया है *। ये षट्रिपु जीवको सन्मार्गसे हटा देते हैं, खुदा और खुदीके बीच अनेक पर्दे खड़ा कर देते हैं ×। और सारी साधना निष्फलहो जाती है; सच्चा मार्ग नहीं सूझता। ऐसे अवसरो पर अध्यात्म-पथका अनुभवी गुरु ही शिष्यको अनेक अवान्तर मार्गोसे बचाता हुआ एक सच्चे मार्ग पर ले जाता है †। यह कार्य अन्यथा सभव नहीं। अनजान वस्तुको ढूंढने-में किसी भेदियेकी सहायता लेना नीति-सम्मत भी है। कबीर कहते ह—

"वस्तु कही ढूंढै कही, केहि विधि आवै हाथ।
कह कबीर तब पाइये, भेदी लीजै साथ॥"

इस प्रकार यह प्रकट है कि गुरुकी सहायतासे शिष्य ब्रह्मका ज्ञान या प्रेम ही नही, बलिक तद्रूपता भी प्राप्त कर लेता है, और अन्तत. उस स्थिति तक पहुँच जाता है, जहाँ उपास्य-उपासकके चिर-संयोगके लिये किसी मध्यस्थकी आवश्यकता नहीं रह जाती।

निर्गुण-साधनामें स्वीकृत गुरुकी महत्ता निर्गुण-साहित्यमे ज्यो-की-त्यों प्रतिबिम्बित हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि गिनतीके कुछ पद लिख

मीराँ मेरा मिहरि करि, अतर विरह उपाइ॥" —दादू।

* "विरक्तम्मन्याना भवति विनिपात शतमुख ।"

× "ख़श्मो शह्वत् मर्द रा अह्वल् कुनद।
जिस्तिकामत् रूह रा मुब्दल् कुनद॥
चूँ ख़ुदी आमद ख़ुदा पोशीद शुद।
सद् हिजाब अज् दिल ब सूये दीदः शुद॥" —रूमी।

अर्थात्, क्रोध और काम मनुष्यको जानवर बना डालते हैं, जीव-को सीधे मार्गसे हटा देते हैं। और जब स्वार्थ का आगमन हुआ कि खुदा आंखोसे ओझल हो गया। फिर तो दिलसे सैकड़ो पर्दे निकलकर आँखो पर पड जाते है।

† "बिनु गुरु पथ न पाइय, भूलै सो जो मेट" —'पदमावत'।

देने-मात्रसे गुरुके ऋणोका परिशोध या उसके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन तो दूर रहा, उसके गुणोका पूर्णत निर्देश भी नहीं हो सकता। फिर भी, अपने मनोगत भावोको तो प्रकट करना ही है; और स्वान्तः सुखाय तो गुरुका गुणानुवाद अवश्य ही किया जा सकता है। जो हो, पर इतना निश्चित है कि संतोने गुरु पर बहुत-कुछ लिखा है, और वह अन्यत्र दुष्प्राप्य ही नहीं, अप्राप्य है। निर्गुण-साहित्यमें गुरुकी चर्चा इतनी अधिक है कि पाठकका जी ऊब उठे। इसके कई कारण हैं। एक तो ये कवि शिक्षित, और शिष्ट-काव्यके रचयिता नहीं थे; और मुक्तकोंमें कविता करनेके कारण बहुत हद तक पुनरुक्ति आदिके दोषारोपणसे भी इन्हें वंचित रखना ही पड़ेगा। फिर, महाकाव्य-रचनाकी प्रवृत्ति या योग्यता नहीं रहनेके कारण वर्णित विषयोंकी सीमा और स्थानके नियन्त्रणकी ओर उनका ध्यान कभी नहीं गया। इसके अतिरिक्त इनके व्यावहारिक जीवन परगुरुका प्रभाव भी अत्यन्त ही गहरा होता था। अतः अन्य विषयोसे सम्बद्ध पदोमें भी प्रायः गुरुका यथाकिञ्चित् उल्लेख कर देना निर्गुण-कवियोकी परम्परागत विशेषता रही है। महाकाव्य लिखनेवाले निर्गुण-कवि जायसीने सिद्धान्तत. 'पदमावत' के आरंभमें ही गुरु-वन्दना की है*, फिर भी सारी पुस्तकमें स्थान-स्थान पर गुरु-महिमाकी अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष दीख पड़ती है। ऐसे तो दादूने भी अपनी बानीके प्रत्येक नवीन 'अंग' के आरम्भमें एक ही प्रकारकी वन्दना की है, जिसमें निरंजनके साथ-साथ गुरु और साधुको भी नमस्कार किया गया है†।

---

* "सैयद असरफ पीर पियारा।
जेहि मोंहि पथ दीन्ह उँजियारा॥" —'पदमावत'।

† "नमो नमो निरंजन नमस्कार गुरु देवत।
वदन सर्वं साधवा प्रणाम पारगत॥" —दादू।
[यहाँ गुरु और साधुका क्रम भी ध्यान देने योग्य है।]

तथापि उनके अन्य पदोंमें गुरुका उल्लेख प्रचुर परिमाणमें मिलता है। और उनकी गुरु-भावना इन्हीं पदोंमें व्यक्त हुई है, उस वन्दनामें नहीं।

निर्गुणियोंने गुरु-भावनाकी अभिव्यक्तिके लिये दो शैलियोंका आश्रय लिया है। उनके साहित्यमें वैसी पक्तियोंकी भी अधिकता है, जिनमें गुरु-महिमा सीधे शब्दोंमें—स्पष्ट शैलीमें—व्यक्त की गयी है[1]; और ऐसी पक्तियाँ भी कम मात्रामें नहीं, जिनमें वह रूपकों या प्रतीकोंके सहारे व्यक्त की गयी है। इन रूपकोंसे गुरु-शिष्य-संबधपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। कुछ रूपक तो संत-कवियोंको अत्यन्त प्रिय है।

"गुरुदेव के भेवका जीव जाने नहीं, जीव तो आपनी बुद्धि ठानै।
गुरुदेव तो जीवको काढ़ि भव सिंधतें, फेरि लै सुक्खके सिंध आनै॥
बंद करि दृष्टिको फेरि अंदर करै, घटका पाट गुरुदेव खोलै।
कहत कबीर तू देख संसारमें, गुरुदेव समान कोई नाहिं तोलै॥"

—कबीर।

"बिनु गुरु जगतको निरगुन पावा?" —जायसी।

"काया माहै लोक सब, दादू दिये दिखाइ।
मनसा वाचा कर्मना, गुर बिन लख्या न जाइ॥" —दादू।

"सतगुरु की असी वडाई।
पुत्र कलत्र विचे गति पाई॥" —नानक।

"गुरु बिन ज्ञान नहि, गुरु बिन ध्यान नहि,
गुरु बिन आतम विचार न लहतु है।
गुरु बिन प्रेम नहि, गुरु बिन नेम नहि,
गुरु बिन सीलहु सन्तोष न गहतु है॥" —सुन्दरदास।

"सतगुरु जगमें आइ तो जीव चेताइया।
सार सब्द लखवाई तो लोक पठाइया॥" —धरमदास।

"जगजीवन घट घट बसै, करम करावन सोय।

कतिपय स्थलों पर गुरु-शिष्य-भावको भृंगी और कीटके संबध-द्वारा स्पष्ट करनेकी चेष्टाकी गयी है * । भृंगी एक प्रकारका कीड़ा होता है । इसकी विशेषता यही है कि यह दूसरे कीड़ेको पकड़ कर उसकी चारो ओर चक्कर लगाता है, और उसे अपने रूपमें परिवर्त्तित कर लेता है । गुरु भी शिष्यको सभी सासारिक बन्धनोसे छुड़ाकर अन्ततः अपने ही समान सिद्ध बना देता है † । किन्तु जहाँ भृंगीको कीड़ेके चतुर्दिक् घूमनेमें कुछ समय लगता है, वहाँ गुरु देखते-ही-देखते, अपने दर्शनमात्रसे

"बिन सतगुरु केसौ कहै, केहि विधि दरसन होय ।।"

—केसवदास ।

"अल्लदख अनुराग है, सुन्नमडल रह थीर ।
दास गरीब उधारिया, सतगुरु मिले कबीर ।।" —गरीबदास ।

'जग जीवन निर्वान भे,
ते दरस गुरु के पाये ।" —जगजीवदास ।

"गुरु है सब देवन को देवा ।
गुरु को कोउ न जानत भेवा ।।
करुनासागर ब्रह्म निधाना ।।
गुरु है ब्रह्मरूप भगवाना ।।" —दयाबाई ।

"चौदह चौकी जम कै होई । बिनु सतगुरु नहिं पहुँचै कोई ।।"

—दरिया सहब (बिहार वाले) ।

"दरिया सतगुरु कृपा करि, सबद लगाया एक ।
लागत ही चेतन भया, नेतर खुला अनेक ।।"

—दरिया साहब (मारवाड वाले) ।

* "कीट भृंग की गति है साधो" —कबीर ।

† "दादू भृंगी कीट ज्यो, सतगुर सेती होइ ।
आप सरीखे करि लिये, दूजा नाहीं कोइ ।।" —दादू ।

ही, शिष्यको स्वानुरूप बना डालता है । यो भी भृंगी-कीट-न्याय और गुरु-शिष्य-संबंधमें उतना अन्तर सदा वर्तमान रहेगा, जितना कवि-प्रसिद्धि और वास्तविकतामें है ।

मृग और वधिकके दृष्टान्तसे भी शिष्योंने गुरुके प्रभावको व्यक्त किया है । बहेलिया अपने पैने तीरसे हरिनको ऐसा घायल कर देता है कि उसे अपने दर्दके अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता । उसी प्रकार गुरु भी शब्द-रूपी बाणकी चोटसे शिष्यके हृदयमें दर्द उत्पन्न करता है, विरह जाग्रत करता है, सुरति उद्बुद्ध करता है । यह दर्द वही समझ सकता है, जिसे अनुभव हो; दूसरा इसे क्या जाने † ! कोई सन्त ऐसा नहीं, जिसे गुरुके इन बाणोंकी चोट नहीं सहनी पड़ी । किसीका सारा तन बिंध गया है ×, तो किसीके मनःप्राण तक चोट जा पहुँची है †† । सारांश यह कि सबोंकी यही गति है— 'दादू घायल ह्वै रहै सतगुरु के मारे' ।

शब्दकी दीक्षासे सुरतिके उद्बोधनका वर्णन कबीरने रूपकके सहारे इस प्रकार किया है । "सतगुरु रूपी शूरवीरने (शब्द का) एक बाण मारा । लगते ही शिष्य पृथ्वी पर गिर पड़ा (स्थिर हो गया), और उसके

---

* "दादू सुधि बुधि आतमा, सतगुर परसै आइ ।
दादू भृंगी कीट ज्यो, देखत ही ह्वै जाइ ।।" —दादू ।

† "हो हिरनी पिय पारधी हो मारे सबद के बान ।
जाहि लगी सो जानही हो और दरद नहि जान ।।" — कबीर ।

× "शब्द की चोट लगी मेरे तन मे बेधि गया तन सारा ।"

†† मैं मिरगा गुर पारधी, सबद लगायो बान ।
चरनदास घायल गिरे, तन मन बीधे प्रान ।।" —चरनदास ।

कलेजे (हृदय)में (ईश्वरकी स्मृतिका) एक छिद्र हो गया" × । इसी भाव को अन्य कवियोंने भी व्यक्त किया है * । सतगुरका शब्द-रूपी वाण काँटेदार होता है, जो अन्तःकरणमें जाकर फिर जल्दी निकलता नहीं; निकलता भी है तो सारी कुवुद्धिको वाहर लेकर, माया और पापके सभी बन्धनोंको खाक करता हुआ † । शब्दकी दीक्षा देकर गुरु शिष्यमें आमूल परिवर्त्तन कर देता है । अन्यत्र कवीरने इस भावना को प्रतीकोंके माध्यमसे अभिव्यक्त किया है ।

सतगुरु ने शब्द-रूपी वाण मारा और ब्रह्मानुभूति में मौन (गूँगा) व्यक्ति आत्मविभोर होकर पागल (वावरा) के समान प्रलाप करने लगा, वाचाल (अनुभूतिका तीव्र प्रकाशक) हो गया, वहरा (अनाहत नाद नहीं सुननेवाला) कान–सहित (अनाहत नाद सुननेवाला) हो गया, चलने वाला (संसारके तीर्थोंका पर्यटन करनेवाला) पंगुल (एक ही स्थान पर स्थिर) हो गया ** ।

सारांश यह कि सतगुरुने ऐसा तक-तक कर शब्द-वाण मारा कि

× "कबीर सतिगुर सूरमे, वाहिआ वानु जु एकु ।
लागत ही भुइ गिरि परिआ, परा करेजे छेकु ॥" —कबीर ।

* "सतगुरु भलका खैंचकर, लाया बान जो एक ।
साँस उभारे सालता, पड़ा कलेजे छेक ॥" —गरीबदास ।

† "सतगुरु मारा बान कस, कैबर गाँसी खैंच ।
भरम करम सब जरि गये, लई कुवुधि सब ऐंच ॥"
—गरीबदास ।

** "गूंगा हूआ बावरा, बहरा हूआ कान ।
पावहु ते पिंगल भया मारिआ सतिगुर बान ॥" —कबीर ।

हृदय में केवल 'राम' रह गया। फिर अन्य कोई वस्तु चित्त पर चढ़ नहीं सकी * ।

इसी प्रकार अन्यान्य दृष्टान्तोसे भी गुरु-शिष्यके सम्बन्धको स्पष्ट करनेकी चेष्टाकी गयी है। इनमें कुभ और कुभकार †, लोहा और लोहार ×, लोहा और पारस +, तथा कपड़ा और धोवी ** के दृष्टान्त उल्लेखनीय है। किसीने गुरुकी उपमा चन्दनसे दी है††, किसीने उसे ससार-सागरका केवट कहा है××, तो कोई उसे भवसिन्धुका जहाज मानकर 'हस' को उस पार ले जानेके

---

* "सतगुर मारे सवद सो, निरखि निरखि निज ठौर।
राम अकेला रहि गया, चीत न आवै और॥" —दादू।

† "गुरु कुम्हार सिष कुंभ है, गढि गढि काढै खोट।
अतर हाथ सहार दै, वाहर बाहै चोट॥"—कबीर।

× "हम तो लोहा कठिन है, सतगुरु बने लोहार।
जुगन जुगन के मोरचे, तोड गढे घन सार॥"
—गरीबदास।

\+ "सतगुरु पारस रूप है, हमरी लोहा जात।
पलक बीच कचन करै, पलटै पिडा गात॥"
—गरीबदास।

** "गुरु धोवी सिष कापडा, साबुन सिरजनहार।
सुरति सिला पर धोइये, निकसै जोति अपार॥" —कबीर।
"सतगुरु धोबी जो मिलै दिल दाग छुडावै।" —दादू।

†† "गुरु पारस गुरु परस है, चन्दन वास सुवास।"
—कबीर।

×× "सतगुरु काढे केस गहि, डूबत इहि ससार।
दादू नाव चढाइ करि, कीयै पैली पार।" —दादू।

फेरमें पड़ा हुआ है ⁻। एक के हाथोंमें गुरुके द्वारा प्रेमका दीपक दिया जा रहा है †, तो वही दीपक दूसरेके हृदयमें जलाया जा रहा है ×; और तीसरा संसारके अन्धकूपसे गुरुके ज्ञानकी डोरी पकड़कर अभी-अभी उबर पाया है⁻*। कोई अपनी आत्मा की चुनरी को सतगुरु-रूपी रँगरेजके द्वारा प्रियतमके रंगमें रँगे जानेकी बात कर रहा है††, तो कोई अपनेको गाय मानकर गुरु-रूपी ग्वालेसे अपने रक्षित होने की ७। तात्पर्य यह कि सभी एक गुरु की ही आस लगाये बैठे हैं; सबों का लक्ष्य एक गुरुसे ही सिद्ध होता दीख पड़ता है, जो दादूके शब्दोंमें इस प्रकार है—

"मुझ ही मे मेरा धणी, पड़दा खोलि दिखाड।

⁻ "दरिया भव जल अगम है, सतगुरु करहु जहाज।
तेहि पर हंस चढाइ कै, जाय करहु सुख राज।"

—दरिया साहब (बिहारी)।

† "जबही कर दीपक दिया, तब सब सूझन लाग।"

× "लेसा हिये प्रेम कर दीया।
उठी जोति भा निरमल हीया॥"

—जायसी।

⁻* "अंध कूप जगमें पडी, 'दया' करम वस आय।
बूडत लई निकासि करि, गुरु गुन ज्ञान गहाय।"

—दयाबाई।

†† सतगुरु हैं रँगरेज, चुनरी मोरी रँग डारी।

—कबीर।

७ "सिष गोरू गुरु ग्वाल है, रच्छा करि-करि लेइ।"

—दादू।

आनम सो परआतमा, परगट आणि मिलाइ ॥"

और फिर

"भरि भरि प्याला प्रेमरस, अपणे हाथ पिलाइ।"

अत

"सतगुरु के सदिकै किया दादू वलि वलि जाइ।"

निर्गुण-साहित्यमे सद्गुरुका केवल माहात्म्य-वर्णन करके ही इतिश्री नही कर दी गयी, बल्कि उसकी पहचानके लक्षण भी बताये गये है। रागात्मक भावनाकी अभिव्यक्तिके नीचे ये लक्षण दब-से गये है, फिर भी गुरु-महिमाका जो निरूपण सन्त-साहित्यमे है, उसके आधार पर सद्गुरुके लक्षणोका एक वृहत् सूचीपत्र प्रस्तुत किया जा सकता है। सत-कवियोने सद्गुरुकी प्राप्ति पर विशेष जोर दिया है, और असद्-गुरुसे वचनेकी बात कही है। सद्गुरुकी प्राप्तिके लिये साधकको वहुत प्रयत्न करना पड़ता है। कहा भी है कि मानसरोवर अपना जल पीनेके लिये घर-घर निमंत्रण नही देता चलता; प्यासे स्वयं उसके पास जाते है *। उसी प्रकार साधनाकी सफल परिणतिके लिये शिष्यको भी सच्छिष्य होना चाहिये। दोनोके योग्य पात्र हुए बिना काम नही चल सकता। अन्धगोलागूल-न्यायसे परम पद की प्राप्ति नहीं हुआ करती †--

'अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपात पदे पदे'।

---

* "मानसरोवर माहि जल, प्यासा पीवै आइ।
दादू दोस न दीजिये, घर घर कहण न जाइ॥"

—दादू।

† "अधे अधा मिलि चले, दादू वधि कतार।
कूप पडे हम देखताँ, अधे अधा लार।"

—दादू।

इसमें सन्देह नहीं कि शिष्य मूर्ख हो या पंडित, यदि वह गुरु-कृपा से आत्मतत्त्वको यथार्थ रूपसे जान ले, तो निश्चय ही भवसे मुक्त हो जाता है *। तथापि उसमे आत्मानुभूति की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति का होना आवश्यक है। अपनी अनुभूति ही शिष्यको साधककी योग्यता प्रदान कर सकती है †। फिर, यदि शिष्य कुपात्र हो, गुरु की आज्ञा नही मानता हो, तो वह कभी मुक्ति प्राप्त नही कर सकता ×। ऐसा शिष्य अपनी उन्मत्ततामें कालके फंदेको नहीं देख पाता, और उसमें फँस जाता है। इन्ही सब कारणोसे सन्त-कवियोने कुपात्र शिष्यके साथ-साथ असद्‌गुरुकी भी तीव्र निन्दा की है ‡; और सद्‌गुरुकी सभी प्रकारसे सेवा करने का उपदेश दिया है।

निर्गुण-मतमें स्वीकृत गुरुके इस महान् आदर्शकी चरम परिणति उसके प्रति अन्धविश्वासपूर्ण भावनाओके रूपमें हुई है। कबीरके सम-

---

* "गुरुप्रज्ञाप्रसादेन मूर्खो वा यदि पण्डितः।
यस्तु सम्बुध्यते तत्त्व विरक्तो भवसागरात् ॥"

—'अवधूत गीता' (१।२३)।

† 'योगवाशिष्ठ' मे तो यहाँ तक कहा है कि अपनी आत्मा अपनी ही बुद्धिको स्वस्थ करके देखी जा सकती है, शास्त्र या गुरुके द्वारा नही—

"न शास्त्रैर्नापि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः।
दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वयवै स्वस्थया धिया ॥"

× "पलटू सतगुरु सब्दका, तनिक न करै विचार।
नाव मिली केवट नही, कैसे उतरै पार ॥" —पलटू।

‡ "कबीर माइ मूंडउ तिह गुरुकी, जाते भरमु न जाइ।
आप डुबे चहु बेद महि, चेले दीए बहाइ ॥"

—कबीर।

सामयिक साहित्यमे जिन क्रान्तिकारी आदर्शोंकी मान्यता है, वे ही परवर्त्ती साहित्यमें आकर अपदस्थ-से दीख पड़ते हैं। ऐसा जान-बूझकर किया गया हो, सो बात नहीं। इसका एकमात्र कारण गुरु-भक्तिकी अतिशयता है (और अति सर्वत्र वर्जनीय होती है), जो अन्धविश्वासके गहरे रंगमें रँगकर अपना वास्तविक रूप खो बैठी है। जिस कबीरदास ने कभी किसी पीर या गुरुकी पूजाका विधान नहीं किया, उन्हींके शिष्य धरमदासकी बानियोंमें गुरुकी पूजा चौका पुराकर की गयी है। परवर्त्ती निर्गुण-साहित्यमे ऐसी भावना भी है कि गुरुकी उँगलीके स्पर्श-मात्रसे कुंडलिनी जाग्रत हो सकती है। यही अन्धविश्वास सूफियोमे भी प्रवेश कर गया है सूफी आज भी पीरकी समाधिको हज समझते हैं। शिवदयालके एक पदमें तो गुरुके चरण दबाने, दातून कराने, नहलाने-धुलाने, यहाँ तक कि उसे पान खिलाकर पीकको स्वयं पी जाने तकका विधान है,* जिसे पढ़कर अत्यन्त खेद होता है। इसी प्रकार साधुके विषयमें भी सन्तोंकी जो भावना थी, उसका वर्तमान रूप इसके अतिरिक्त और क्या रह गया है—

"नारि मुई घर सपति नासी।
मूड मुडाय भये सन्यासी॥" या

"दूध दही रबडी नित खात, पिये सुलफा अरु भंग जमाही।"

इसका प्रधान कारण है माया। मायाका बन्धन नही काट सकने-वाले साधु और गुरुका दूसरा रूप हो भी क्या सकता है! और दुर्भाग्यवश यही माया कालान्तरमें सभी पंथवालोंको अपनी ओर आकृष्ट करती गयी है, जिससे उनके आदर्श विकृत रूपमें बच रहे हैं। इसी

---

* "चरण दबावे, पखा फेरे, चक्की पीसे, पानी भरे॥
मोरी धोवै, झाडुको धोवै, खोद खुदाना मिट्टी लावै।
हाथ धूला दातन करवावै, काट पेड से दातन लावै॥

मायाके प्रभावमें पले वर्तमान साधुओंकी विकराल समस्या देशके सामने मुँह बाये खडी है, इसीके इशारोंपर नाचनेवाले गुरु-पदकी प्राप्तिके लिए हाइकोर्टकी शरण लेते हैं। आजके युगमें साधुका वास्तविक रूप रह नहीं गया, और गुरुके विषयमें तो इन पंक्तियोंका उल्लेख ही अलम् होगा—

"प्रायशो गुरवो लोके शिष्यवित्तापहारकाः ।
विरला गुरवस्ते ये शिष्यहृत्तापहारकाः ॥"

बटना मल असनान करावै, अंग पोंछ धोता पहनावै ।
धोती धोय अँगोछा धोवै, कंघा बाल बल खोवै ॥
वस्त्र पहनावें, तिलक लगावै, करे रसोई भोग धरावै ।
जल अचवाव हुक्का भरै, पलँग बिछावै विनती करै ॥
पीकदान ले पीक करावै, फिर सब पीक आप पी जावै ॥" आदि

—शिवदयाल ।

निर्गुण-काव्यका विधान और भाषा-शैली

प्रत्येक वस्तुकी कुछ विशेषतायें होती हैं। विशेषता एक वस्तु-सापेक्ष भाव- सत्ता है, जो स्थूलतः दो भागोंमें विभक्त की जा सकती है-- आन्तरिक और बाह्य। वस्तु-विशेषसे जिस विशेषताका समवाय (अविच्छेद्य) संबंध हो वह आन्तरिक, और जिसका संयोग (विच्छेद्य) संबंध हो वह बाह्य मानी जाती है। यह एक चिरन्तन सिद्धान्त है, एक सार्वकालिक मानदण्ड है, जिसके सहारे किसी वस्तु के नित्य और अनित्य तत्त्वोंका, उसके चिरस्थायी और क्षणस्थायी अंशोंका उचित रूपमें निदर्शन किया जा सकता है। इसी सिद्धान्तके अनुसार हमारे क्रान्तदर्शी ऋषियोंसे लेकर आत्मदर्शी संतों तकने सारे जगत्, बल्कि निखिल विश्व को (जो बहुत हद तक प्रत्यक्ष सत्य है) इसके मूलमें निहित एक, अगोचर, चिन्मय सत्ताकी अपेक्षा कम महत्त्व दिया है। इसी कसौटीके आधार पर दो वस्तुओंका पारस्परिक मूल्याङ्कन करते हुए हम उनकी आंतरिक विशेषताओंको प्रमुख और बाह्य विशेषताओंको गौण स्थान देते हैं (स्वरूपतः भिन्नजातीय होने पर तो बाह्य उपकरणोंका महत्त्व तुलनात्मक आलोचना के लिये नगण्य-सा हो जाता है, यद्यपि निरपेक्षतः इनकी सत्ता नितांत उपेक्षणीय नहीं)। इसके अतिरिक्त एक बात और ध्यान देने योग्य है। दो भिन्नजातीय वस्तुओंकी तुलना करनेमें सत्समालोचकको दोनोंकी पृष्ठभूमिसे अलग-अलग दृष्टिकोणोंका निर्माण करना चाहिए। आलोचना में साम्य-बुद्धिके प्रकाशके लिये उसके मानदण्ड पर ये दो प्राथमिक नियंत्रण आवश्यक प्रतीत होते हैं। इन नियन्त्रणोंके अभावमें क्रमशः दो प्रकारके प्रमाद संभव हैं--- आलोचकका वस्तुओंके नित्य गुणोंको ही उनके मूल्यका निर्णायक कारण मानकर चलने लगना, और आलोचना-

क्षेत्रसे उसका 'सब धान बाईस पसेरी' तौलना शुरू कर देना। इसमें संदेह नहीं कि यह निरंकुशता भी आलोचनामें सैद्धान्तिक मतभेद उत्पन्न करने का एक प्रमुख कारण है, जिसे 'भिन्नरुचिर्हिलोकः' का मोहक शब्दावरण दे दिया जाता है। प्रस्तुत विषयके प्रसंगमें इससे हमारा संकेत सगुणको निर्गुणसे एवं प्रबंधको मुक्तकसे स्वतः श्रेष्ठ मान लेनेवाले, तथा शिष्ट-काव्य और लोकगीतको एक ही लाठीसे हाँक ले चलनेवाले आलोचकोंकी ओर है। निर्गुण-काव्यका यह दुर्भाग्य है कि कुछ श्रेष्ठ आलोचकोंके द्वारा भी इसका अध्ययन शिष्टकाव्यके दृष्टिकोणसे ही होता रहा है। यह दृष्टिकोण भ्रामक है, और इसके उभयरूप दुष्परिणाम संभव हैं—एक तो, शिष्ट-काव्यके विशिष्ट तत्त्वों—अलंकारादि—के माध्यमसे निर्गुण-काव्य जैसे लोकगीतात्मक साहित्यको परखनेका प्रयत्न, और दूसरा, इसमें व्याकरणादिसम्मत भाषा-शैलीकी अपेक्षा। कहना नहीं होगा कि इस प्रकार संत-काव्यकी आत्मा और उसके शरीर, दोनोंके साथ न्याय संभव नहीं।

विधान की दृष्टिसे विचार करने पर हम अन्य साहित्योंकी तरह निर्गुण-साहित्यमें भी प्रबंधकी अपेक्षा मुक्तककी बहुलता पाते हैं। वास्तविकता यह है कि निर्गुण-ब्रह्मको मूलाधार मानकर प्रबन्ध-रचना हो ही नहीं सकती। प्रबन्ध-काव्य कथादिसे सीमित-संकुचित एक भूमि-खंड है, जिसमें व्योमकी अनन्त सत्ताका सन्निवेश तो क्या, उसका अवतरण भी संभव नहीं। यह तो मुक्तक की अबाध, असीम, विस्तृत जलराशि ही है, जहाँ उसकी एक झाँकी मिल जाती है। यही कारण है कि प्रबन्ध-काव्यके माध्यमसे अभिव्यक्त होने पर निर्गुण तत्त्वतः तो नहीं, पर व्यवहारत अवश्य ही सगुण हो गया है। प्रबन्ध-काव्य का सर्वप्रमुख उपादान कथा-वस्तु है। पर अरूपके साथ कथाका मेल कैसा? जब तक परब्रह्म मानवी या अमानवी रूपमें अवतार नहीं लेता, तब तक उसके जीवनमें कोई घटना नहीं घटती; और जब तक कोई घटना नहीं

घटती, तब तक प्रबन्ध-काव्यकी योजनाके लिये पृष्ठाधार नहीं बन पाता। प्रबन्ध-काव्यमें घटनायें रहती हैं, उनका क्रमिक विकास होता है, उनके अन्तर्गत दृश्य-योजना होती है, एवं प्रसंगानुसार भावनात्मक और मार्मिक अंशोके सविस्तार उद्घाटनके साथ-साथ चरित्र-चित्रण भी होता चलता है। पर निर्गुण-ब्रह्मका तो चरित्र-चित्रण भी संभव नही। चरित्र-चित्रणके लिये गुणावगुणो का, विशेषताओका आधार चाहिये, और निर्गुण-ब्रह्म सत्त्व-रजस्-तमस्से विवर्जित है, त्रिगुणातीत हैं। प्रबन्ध-काव्यके लिये स्थूलता चाहिये, पर वह तत्त्व 'पुहुप वास ते पातरा' है। अत. इसमें सन्देह नहीं कि यदि निर्गुण-ब्रह्मका कोई साहित्य हो सकता है, तो वह मुक्तकोंमें होगा। वस्तुतः निर्गुण-साहित्य लोकगीतात्मक साहित्य है, जिसकी अभिव्यक्ति अद्यावधि मुक्तको में होती आयी है। लोकगीतोमें भी प्रबन्ध-रचना असभव-सी है; और अधिकांश निर्गुण-कवि पूर्णतः लोकगीतकार थे। इस दृष्टिसे भी निर्गुण-काव्यके मुक्तकपरक होनेका समाधान हो जाता है। यों तो 'पदमावत' आदि सूफी-काव्य प्रबन्धात्मक ही है, पर उनमें विशुद्ध निर्गुण-ब्रह्मका निरूपण कहाँ तक हो सका है, यह विचारणीय विषय है। अलौकिककी व्यञ्जना लौकिकके माध्यमसे करनेके कारण उनका ब्रह्म व्यावहारिक रूपमे निर्गुण नही रह सका; उसे माया-मोहमें पडकर सगुण बनना पड़ा। 'पदमावत' के 'स्तुति-खड'में निर्गुण-ब्रह्मका रहस्योद्घाटन करते हुए जायसीने कहा है—"वह अलख है, अरूप है, अवर्ण है। न उसका कोई पिता है, न माता; न उसका कोई कुटुम्ब है, न सगा-सम्बन्धी। वह जीव बिना ही जीता है, जीभ बिना ही बोलता है, तन बिना ही डोलता है, श्रवण बिना ही सुनता है, हृदय बिना ही गुनता है, नयन बिना ही देखता है"*। पर 'जन्म-खड' में उसी ब्रह्मने दस मास तक

* "अलख अरूप अबरन सो कर्त्ता। वह सब सो, सब ओहि सो बर्त्ता॥
ना ओहि पूत न पिता न माता। ना ओहि कुटुंब न कोई सँग नाता॥

चंपावतीके गर्भमें रहकर पद्मावतीके रूपमें अवतार लिया है । अब उसके पिता भी है, माता भी है, प्राण भी है, जीभ भी है; तन भी है, श्रवण भी है; हृदय भी है, नयन भी है। अब वह पूर्णत. सगुण है, सोलहो आने मनुष्य। यही कारण है कि उसके आधार पर प्रबंध-काव्यकी रचना हो सकी है। यदि पद्मावती पर ब्रह्मका आरोप नहीं किया जाता, तो यह निश्चित था कि जायसी 'पदमावत' नही लिख पाते। और इसमें सन्देह नही कि यह प्रक्रिया निर्गुण-भक्ति-मार्गके मूलभूत सिद्धान्तोके विरुद्ध पड़ती है। निर्गुण-काव्यमे मुक्तकके प्राधान्यका यही रहस्य है। वास्तवमें साधक-कविकी भावाभिव्यक्तिका सर्वोत्कृष्ट मार्ग मुक्तक ही है। निर्गुणियोके मुक्तक दो भागोमे विभक्त किये जा सकते है— 'साखी' अर्थात् दोहे,

---

जीउ नाहि, पै जियै गुमाइ। कर नाही, पै करै सबाई ॥
जीभ नाहि, पै सब किछु बोला। तन नाही, सब ठाहर डोला ॥
स्रवन नाहि, पै सब किछु सुना। हिया नहि, पै सब किछु गुना ॥
नयन नाहि, पै सब किछु देखा। कौन भाँति अस जाइ बिसेखा ॥"

—'पदमावत'।

² "भए दस मास पूरि भइ घरी। पदमावति कन्या औतरी ॥"

—'पदमावत'।

¹ प्रबधकी अपेक्षा मुक्तकमें गीतिमत्ता अधिक होती है, फलत प्रेषणीयता और प्रभावोत्पादकता भी। मधुर स्वर-लहरीमे ढल जाने पर काव्यगत भाव सजीव होकर बोलने लगते हैं। इसीलिए कहा है—

"पूजाकोटिगुण स्तोत्र स्तोत्रात्कोटिगुणो जप।
जपात्कोटिगुण गान गानात्परतर न हि ॥"

—पूजासे स्तोत्र करोड गुणा श्रेष्ठ है, और स्तोत्रसे जप। जपसे करोड गुणा श्रेष्ठ गान है, और गानसे बढकर उपासनाका अन्य कोई ---- नही।

और 'शब्द' अर्थात् पद। अभी तक इन साखियो को पिगलकी कसौटी पर कसकर साहित्य-क्षेत्रमे प्रदर्शित करनेका दुस्साहस तो किसीने नही किया, पर कबीर आदिके 'विवेचनके सिलसिलेमें छन्दका रोना बहुत बार रोया गया है आलोचना-क्षेत्रमे इसे सत्पथ कदापि नही माना जा सकता। कबीर और दादूके दोहोके लिये पिगलकी कसौटी उसी प्रकार है, जिस प्रकार कालिदास और माघकी कविताके लिए अन्त्यानुप्रासका मापदण्ड। सत-कवियोने स्वाभाविक रूपमें कविता की है, जिसे ठीक-ठीक छदोके अनुरूप उतारने की न तो उनमे योग्यता थी, न आकाक्षा। हिन्दीमें तो दोहेका एक ही प्रकार होता है, पर यदि डिगलके चार प्रकारके दोहो* को भी कबीरकी साखियोके सामने रखा जाय, तो अनेक साखियोकी कोई जाति निर्धारित नही हो सकेगी, यह निश्चित है। निर्गुणियोके पदोमें अनेक स्थानोपर तुक की गड़बड़ी शिष्टकाव्यके अभ्यस्त कानोको खटक सकती है, पर लोकगीतकारोके लिए यह कोई महत्त्वपूर्ण बात नही। सत-कवियोने कविता तक को अपना लक्ष्य नही माना है। कवि और कवितासे तो उन्हे घृणा है†। उनका एकमात्र ध्येय है भाव-प्रकाशन; और इस क्षेत्रमे वे बड़े-बड़े कवियो को भी पीछे छोड़ देते है। काव्यात्मक प्रेषणीयताकी दृष्टिसे उनके 'शब्द' 'साखियो' की अपेक्षा अधिक सफल है। 'साखियाँ' बुद्धि-प्रेरित है; उनमें प्राय शुष्क उपदेश और ज्ञानकी बाते है, मायाका निरूपण, साधु-सद्गुरुके लक्षण और तर्कपूर्ण खडन-मडन है। पर अधिकाश शब्दोका मूल-स्रोत हृदय है, उनमें आत्मानुभूतिके अनेक अमूल्य कण बिखरे पड़े है, उन्हे पाकर कला चमक उठी है। 'शब्दो' में काव्य-तत्त्व की प्रचुर मात्राके लिये सतोकी अनुभूतिकी सचाई धन्यवाद-योग्य है या उनकी प्रतिभा, यह ठीक-ठीक कहा नही जा सकत

---

* दूहो, बडो दूहो, तूंवेरी दूहो ओर सोरठियो दूहो।

† "कवी, कवीने कविता मुए"।

क्योंकि 'साखी' जैन और सिद्ध-कवियों तथा डिंगलके चारणोंके परंपरागत 'दोहा' छंदका ही अभिनव नामकरण थी, और जनताका उससे पुराना परिचय भी था, पर 'शब्द' का प्रयोग तो निर्गुण-साहित्य में ही प्रथम-प्रथम समुचित रूपमें हुआ। 'शब्दों' की रचना पिंगलकी अपेक्षा संगीतके अधिक अनुकूल हुई है। इनके अतिरिक्त 'कवित्त' 'सवैया' और 'हंसपद' का भी प्रयोग हुआ है। 'झूलना'का कुछ अधिक व्यवहार किया गया है, तथापि प्रधानता 'साखी' और 'शब्द' की ही है। उत्तरवर्त्ती संत-कवियोंमें सवैया, ककहरा रेखता, छप्पय आदि छंदोंका प्रयोग पाया जाता है। पंडित और शास्त्रज्ञ होनेके कारण सुन्दरदासने तो हंसाल, इन्दव, दुर्मिल आदिमें भी लिखा है। अपने सिद्धान्तोंकी अत्यधिक प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति करनेके लिये निर्गुणियों ने प्रश्नोत्तर या संवाद-शैलीका भी आश्रय लिया है, जैसा 'कबीर और धरमदासकी गोष्ठी', 'निर्भयज्ञानकबीरगोरख', 'कबीर-गोरखकी गोष्ठी', 'कबीर और शाहबलख', 'कबीर और मुहम्मद साहब', 'ज्ञान-समुद्र' आदि पुस्तकोंसे प्रकट है। इन पुस्तकोंमें साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की रक्षा, तथा अपने धर्म-प्रवर्त्तकको सर्वश्रेष्ठ दिखलानेकी जितनी प्रवृत्ति है, उसका शतांश भी ऐतिहासिक तथ्य नहीं। फिर भी इस शैलीके प्रयोगका एक मनोवैज्ञानिक कारण है। वह यह कि संतोंमें गुरुमुखसे प्राप्त ज्ञानकी ही महत्ता है, और यह ज्ञान प्रश्नोत्तर या संवादके रूपमें ही प्राप्त किया जाता है।

सभी सूफी-कवियोंने आदिसे अंत तक दोहे-चौपाइयोंमें ही काव्य-रचना की है। कुछ विद्वानोंने अपनी भ्रामक धारणाके कारण जायसीको दोहा और चौपाईका आविष्कारक मान लिया है। पर दोहा-चौपाईकी परंपरा 'दोहा' और 'विअक्खरी' के रूपमें अपभ्रंश-साहित्यमें भी मिलती है। सहजयानी सरहपा और कृष्णाचार्यके ग्रंथोंमें दो-दो, चार-चार चौपाइयोंके बाद दोहे लिखनेकी प्रथा है, जो सूफी-कवियों-द्वारा

क्लिकल रूपमें अपना ली गयी है। अपभ्रंश-साहित्यमें दस-दस या बारह-बारह चौपाइयोके बाद घत्ता, उल्लासा आदिका प्रयोग करके भी प्रबन्ध-काव्यकी रचना होती रही है। ये प्राचीन नियम सूफी-कवियो के द्वारा सुविधानुसार अपना लिये गये है। अवधी-काव्योमें दोहे-चौपाइयों का बहुतही सफल प्रयोग हुआ है, इसमें संदेह नहीं। शायद सूफियोंकी इस सफलताको दृष्टिपथमें रखकर ही तुलसीने इन्हीं छदोमें 'रामचरित-मानस' की रचना की। प्रबन्ध-काव्यके लिये ये छद अधिक उपयुक्त सिद्ध हुए है। इनके माध्यमसे कथाका विकास अपेक्षाकृत स्वाभाविक रूपमें होता चलता है। इसलिये भी सूफी-कवियोने इनका व्यवहार किया हो, तो आश्चर्य नहीं। पर इनका क्रम सबोने एक-सा नहीं रखा। 'मधु-मालती' और 'मृगावती' में चौपाई की पाँच पक्तियोके बाद एक दोहा है। पर 'पदमावत' में दोहोके बीच चौपाई की सात पंक्तियाँ है।

जो भी थोड़े-बहुत प्रबन्ध सूफियोने लिखे है, वे भारतीय लक्षण-ग्रथोंमें प्रतिपादित नियमोंके अनुसार नहीं, बल्कि फारसीकी मसनवी-शैलीमें। मसनवी 'दो-पाई' छद होता है, और पाँच या सात छन्दोके बाद विराम देते हैं। उसमें प्रेम-कहानियाँ वर्णित होती है, और उसका संघटन होता है ईश्वरस्तुति, मुहम्मद-स्तुति, सुलतान-स्तुति, आत्म-परिचय और कथा-भाग—इस क्रमसे। मसनवी वर्णनात्मक होती है, और कहीं-कहीं वर्णनका विस्तार आवश्यकता से अधिक भी हो जाता है। सूफियोंके सभी प्रबध-काव्योमें ये लक्षण सर्वाशतः घटित होते है। जायसीने मसनवीके 'दो-पाई' छन्दकी तरह चौपाईकी अर्धालियोका प्रयोग किया है, और सात अर्धालियोके बाद दोहेका क्रम रखा है। विषयका क्रम भी मसनवीकी ही तरह है, और प्रेम-कहानी तो है ही। सूफियोका कोई भी प्रबंध-काव्य सर्गबद्ध या काड-बद्ध नही। वे तो प्रत्येक प्रकरणका एक शीर्षक देते चलते है, जो वर्ण्य विषयको प्रकट करता है। यह भी

मसनवी-शैलीकी एक विशेषता है। शुक्लजी के अनुसार प्रबन्ध-काव्य के तीन भेद हैं—वीरगाथा, प्रेमगाथा और जीवनगाथा। निश्चय ही सूफियोंकी मसनवियाँ 'प्रेमगाथा' के अन्तर्गत आती है।

वर्तमान समयमें निर्गुणियोंकी भाषाका जो स्वरूप हमें प्राप्त है, वह अपने मूलकी अपेक्षा कितना अपभ्रष्ट हो चुका है, इसका अनुभव कल्पना ही कर सकती है। "लिपिकारो और प्रतिलिपिकारोकी अज्ञानता (के अज्ञान), समयका (के) अत्याचार, गुरुओकी अहम्मन्यता, छपाईके अभावमें हस्तलेखनकी कठिनाइयाँ (कठिनाइयो), (तथा) कविताके भिन्न-भिन्न प्रान्तोमें व्यापक और मौखिक प्रचार*" ने निर्गुण-काव्यको बहुत अंशोंमें विकृत कर दिया है। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी भाषाका मूल स्वरूप अत्यन्त व्याकरणसम्मत, और शिष्ट-काव्यकी भाषाके समान था। क्योंकि एक तो अधिकांश निरक्षर संत-कवियोंको यों ही भाषाके परिष्कृत रूपका ज्ञान नहीं रहा होगा. और दूसरे, पर्यटनशील स्वभावके कारण विविध भाषाओके प्रभावसे भी वे वंचित नही रह सके। था भी यह नितात स्वाभाविक। अब यदि डिगल-साहित्य-शास्त्रके अनुसार निर्गुणियोंकी भाषामें कोई 'छबकाल'† दोष निकाले, तो उसकी दवा हो ही क्या सकती है! पर ऐसा बहुश हुआ है। इसका कारण यही है कि वैसे अलोचकोने निर्गुण-काव्यको प्राकृतिक नेत्रोसे नहीं देखा, शिष्ट-काव्यके चश्मेकी सहायतासे देखा है। उन्होंने यह समझकर कबीरका अध्ययन किया है कि 'कबीरको साहित्यिक भाषाका शिलान्यास करना था×', जब कि हमारा दावा है कि 'साहित्यिक भाषाका शिलान्यास' तो दूर रहा, केवल 'शिलान्यास' का अर्थ भी कबीर-

---

* 'सत कबीर' (पृ० १५) डा० रामकुमार वर्मा।

† विरुद्ध भाषाओके मिश्रणको डिंगल में 'छबकाल' दोष कहते हैं।

× 'सत कबीर' (पृ० २१-२२). डा० रामकुमार वर्मा।

को ज्ञात नही रहा होगा। 'साहित्यिक भाषाके शिलान्यास' में एक भाषा-विशेषके किञ्चित् परिष्कृत और संस्कृत रूपके प्रयोगकी जो ध्वनि है, वह कबीरके विषयमें चरितार्थ नहीं होती; क्योंकि उनकी भाषा 'जनताके बीच बोली और समझी जानेवाली, रूखी और अपरिष्कृत'* थी। इसके अतिरिक्त साहित्य कभी कबीरका लक्ष्य रहा ही नही, जो वे अपनी भाषाका परिष्कार करते। वर्तमान भोजपुरी लोकगीतकारोंने नितान्त वैयक्तिक तुष्टिके लिये—स्वान्त सुखाय— गीतोंकी रचना की है, जो जनतामें अत्यन्त प्रचलित है। अब यदि सौ-पचास वर्षोंके बाद कोई विद्वान् कवि संस्कृतका पुट देकर भोजपुरीमें एक महाकाव्य लिख डाले, तो यह समझना भ्रमकी पराकाष्ठा ही होगी कि इन लोकगीतकारोने ही साहित्यिक भोजपुरीका 'शिलान्यास' किया। इस दृष्टिसे देखनेपर तो प्रत्येक लोक-भाषाका सर्वप्रथम कवि उसके अत्यन्त परिमार्जित, साहित्यिक रूपका जन्मदाता सिद्ध किया जा सकता है, और संस्कृत भोजपुरीकी माता हो सकती है।

निर्गुण-काव्यकी भाषा अनेक बोलियोका मिश्रण तो है, पर विश्लेषण करके हम उसमें निरन्तर प्रवहमान मूल स्रोतोसे परिचित हो सकते है। प्रत्येक कवि पर उसकी जन्मभूमि या कर्मभूमि की भाषा का अधिकार होता है। सत-कवियो पर तो सत्संग और पर्यटन के रूपमें अन्यान्य प्रभाव भी पर्याप्त मात्रामें पडे है। यही कारण है कि साधारणतः उनकी भाषाके विषयमें कोई प्रामाणिक निर्णय नही दिया जा सकता। पर यह सबोके विषयमें सत्य नहीं। जिस कविका सत्संग, पर्यटन और प्रचार जितना ही अधिक रहा है, उसकी भाषा उतनी ही मिश्रित पायी जाती है। कबीर पर पंजाबी और राजस्थानीके भी प्रभाव है, यद्यपि उनकी मूल भाषा पूरबी हिन्दी कही जा सकती है†।

---

* वही, पृ० २२।

† 'मेरी बोली पूरबी'—कबीर।

क्रियापदों, कारक-चिह्नो तथा सयोजक शब्दोके आधार पर ही हम भाषाका निर्णय कर सकते हैं। पर कबीरकी भाषामे अवधी, खड़ी बोली और भोजपुरी, तीनोके क्रियापद पाये जाते हैं। कारक-चिह्न तो राजस्थानी तकके मिलते हैं। अरबी-फारसीके शब्दो की भी कमी नहीं। तथापि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'के आधार पर हमने कबीर की भाषाको 'पूरबी हिन्दी' कहा है। प० बलदेव उपाध्याय, सर जार्ज ग्रियर्सन और रेवरेन्ड अहल्दशाहने कबीर की भाषाको भोजपुरी, अथवा बनारस, मिर्जापुर और गोरखपुर की लोकभाषा माना है। कबीर की भाषाके मूल स्वरूप की कल्पना करने पर वे सत्यके अधिक निकट जान पड़ते हैं। इसी प्रकार विश्लेषण की दृष्टिसे देखने पर दादू की भाषाका मूल राजस्थानी, और नानकका पंजाबीमें प्राप्त होता है। प्रायः उत्तरवर्त्ती सभी सत-कवियोंने तत्कालीन लोकप्रचलित व्रजभाषामें काव्य-रचना की है, फिर भी उनकी भाषा मिश्रणसे वञ्चित नही कही जा सकती। ऐसे तो सूफियोके अतिरिक्त सभी संत-कवियो की भाषाको एक व्यंग्यपूर्ण विशेषण दिया गया है— 'सधुक्कड़ी'। अच्छा होता, यदि उसे 'निर्गुणिया' नामसे अभिहित किया जाता; और यह नामकरण निर्दोष भी होता।

समस्त सत-कवियोमें कुछ ऐसे भी कवि है, जिन्होने निर्गुणिया भाषाका व्यवहार नहीं किया है। उत्तरवर्त्ती सभी सन्त-कवियोंने व्रज-भाषामें काव्य-रचना की है। यह व्रजभाषा भी ग्रामीण है, साहित्यिक नहीं। विद्वान् होनेके कारण सुन्दरदासने शुद्ध और साहित्यिक व्रज-भाषामें लिखा है, अतः यह अपवाद समझे जायेंगे। सूफियोंने ठठ, ग्रामीण अवधीमें काव्य-रचना की है। जायसीकी अवधीमे कुछ संस्कृतके और बहुत-कुछ अरबी-फारसीके शब्दोका भी प्रयोग है; तथापि वह साहित्यिक नही कही जा सकती, क्योकि उसकी आत्मा ग्रामीण है, नागरिक नहीं; लोकगीतात्मक है, शिष्ट-साहित्य-जन्य नही। इस प्रकार पूर्ववर्त्ती सत-काव्य की भाषाको स्थूलतः दो वर्गोमें विभाजित कर

सकते हैं—निर्गुणिया और अवधी। दोनोंके प्रतिनिधि कवि क्रमशः कबीर और जायसी माने जायेंगे। अत निर्गुण-काव्यकी भाषाका विवेचन इन्हींकी भाषाके अध्ययन पर बहुत-कुछ आधारित है।

आलोचना-साहित्यमें कबीरकी भाषाके सबंधमें विविध मत उपस्थित किये गये हैं, जिनमें परस्पर मूलतः विरोध दृष्टिगत होनेका एकमात्र कारण दृष्टिकोणकी विभिन्नता है। वायुयानमें बैठकर शीशेके द्वारा देखने पर पृथ्वीके प्राकृतिक दृश्योंके सौन्दर्य और उपयोगिताका वह ज्ञान असंभव है, जो ठोस जमीनपर सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। चिकने ग्रैंडट्रंक रोड पर फिसलती चलनेवाली मोटरोंके लिये ब्रजकी 'साँकरी' ककडीली गलियोंका मार्ग भले ही अनुपयुक्त हो, पर उनकी भी अपनी उपादेयता है, सरसता है। इसी आधारपर हम तुलसी-साहित्यकी आलोचक लेखनी-द्वारा कबीरकी आलोचना करनेको अस्वस्थ दृष्टिकोणका परिचायक समझते हैं। इसी आधारके अभावमें कबीरके प्रशंसक आलोचकोंको भी उनकी 'बिलकुल गँवारू' * भाषामें 'साहित्यिक कोमलताका सर्वथा अभाव,' † देखकर उनके 'खरेपन की मिठास' × से ही सन्तुष्ट होनेका उपक्रम करना पड़ता है; जब कि वास्तविकता यह है कि मधुर-भाव की व्यञ्जना करते समय उनकी भाषा में भी जो स्वाभाविक कोमलता और मिठास आ गयी है, वह यत्न-सापेक्ष साहित्यिक कोमलतासे किसी अंशमें कम नहीं। और समाज-सुधार जैसे विषय पर कही गयी पंक्तियोंमें कोमलता की अपेक्षा ही सर्वथा निराधार है। ऐसे प्रसगमें वाणी को पुष्पधन्वाका तीर

---

* 'भाषा और साहित्य' (पृ० ३४४, प्रथम संस्करण)
—डा० श्यामसुन्दरदास।

† वही।

× वही।

घन कर नही, अर्जुनका तीर बनकर असर करना पड़ता है, और यह शिष्ट-भाषाकी अपेक्षा लोक-भाषामे अधिक सुलभ है।

कबीर की भाषा असाहित्यिक है, इसमें सन्देह नही; पर यही असाहित्यिकता उसकी शक्ति है। उसमें स्वाभाविकताका बल है, कृत्रिमता की छाया भी वहाँ नहीं पहुँची। यदि उसमे साहित्यिक कोमलता नही है, तो आलोचक इस ओर ध्यान ही क्यों दे ? निरक्षर कबीरने इस बातका कभी प्रयत्न नही किया कि वे परिष्कृत भाषाका प्रयोग करें। भाव-प्रकाशन की इच्छा होने पर उनके समक्ष अपनी भाषा—जन-भाषा—अकृत्रिम रूपमें उपस्थित हुई, जो स्वाभाविक था। अतः उनकी भाषामे साहित्यिकताके अभावका कारण ढूँढ़ना ही कुछ युक्तिसंगत नहीं लगता। फिर भी आलोचकोंने ऐसा किया है। एक स्थान पर कहा गया है—

"कबीरने धर्म-जैसे गंभीर विषयके विवेचनमें जब जन-समुदाय की भाषाका आश्रय ग्रहण किया, तो उनके सामने एक गभीर उत्तरदायित्व था। उन्हें काव्यकी परंपराओका पहली बार निर्माण करना था; और अपनी भाषा को ऐसा रूप प्रदान करना था, जो अधिक-से-अधिक जनताके द्वारा समझा जा सके। यही कारण है कि वे लोकरुचि और सुबोधताके दृष्टिकोणसे अपनी भाषा को इतना सरल रूप देनेके पक्षपाती थे कि वे उसका विशेष सस्कार भी नही कर सके। उन्हें जनसमुदायकी स्वाभाविक भाषाको ही काव्यके क्षेत्रमें लाना पडा, और काव्य-परंपराओके अभावमें उन्हें किसी प्रकारका साहित्यिक बल नही प्राप्त हो सका"। *

पर वास्तविकता यह है कि कबीरको जन-समुदायकी भाषाका 'आश्रय ग्रहण' करना नहीं पडा। वह तो उनकी अपनी भाषा थी।

* 'कबीर पदावली' (पृ० ९) · डा० रामकुमार वर्मा।

जहाँ तक काव्य-परंपराके निर्माणका प्रश्न है, यही कह देना अलम् होगा कि कबीर जैसा उच्च कोटिका साधक, जिसने अपना पथ तक चलाना अस्वीकार कर दिया, काव्य-परंपराके निर्माण करने और छोड़ जानेकी बात सोच भी नहीं सकता। फिर कवि और कविता तो कभी उनकी प्रशंसाके पात्र रहे ही नहीं। अतएव यह कहना उपयुक्त होगा कि कबीरने चेष्टा करके या कारण-विशेषसे प्रेरित होकर नहीं, बल्कि स्वाभाविक रूपमें अपनी भाषाको, उसकी सम्पूर्ण सरलता, सुबोधता तथा ग्रामीणताके साथ अपनाया। यही भाषा जनता बोलती और समझती थी। ऐसा सोचना युक्तियुक्त नहीं जान पड़ता कि जीवन-पर्यन्त 'मसि कागद' * का स्पर्श भी नहीं कर सकनेवाले कबीर को लोकभाषाके अतिरिक्त किसी शिष्ट-भाषाका भी ज्ञान रहा होगा। ऐसी स्थितिमें उनके द्वारा भाषाके 'विशेष संस्कार' की कल्पना भी निरर्थक है, उसके अभावका कारण ढूँढने को क्या कहा जाय!

कबीरकी भाषाकी श्रेष्ठताके विषयमें आलोचकोंने अत्यन्त विरोधी मत प्रकट किये हैं। डा० रामकुमार वर्माने तो समस्त संत-साहित्य की भाषा को अपरिष्कृत और सौन्दर्य-विहीन बताया है †, पर काका कालेलकर लिखते हैं—

"भाषाकी दृष्टिसे भी संतोंकी सेवा कुछ कम नहीं है। संतोंने तो भाषाकी एक टकसाल ही खोल दी है, जिसमेंसे नये-नये किस्मकी

---

* "मसि कागद के आसरे क्यों टूटै भवबन्ध" —कबीर।

† "संत-काव्यमें भाषा बहुत अपरिष्कृत है। उसमें कोई विशेष सौन्दर्य नहीं है।"—'हिन्दी-साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास'

—डा० रामकुमार वर्मा।

अशर्फियाँ नित्य ढल-ढलकर निकलती रहती है" * ।

प० हजारीप्रसाद द्विवेदीने कबीरकी आलोचना करते हुए भाषा पर उनका जबर्दस्त अधिकार बताया है—

"भाषा पर कबीरका जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणीके डिक्टेटर थे। जिस बातको उन्होंने जिस रूपमें प्रकट करना चाहा है, उसी रूपमें भाषा से कहलवा दिया है—बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीरके सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके" † ।

यदि भाषासे हमारा तात्पर्य भावाभिव्यक्तिके माध्यमसे है, तो निस्संदेह कबीर तथा अन्यान्य संतोकी भाषाको मूर्द्धन्य स्थान मिलना चाहिये। पर यदि कोरा चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य ही श्रेष्ठ भाषाका मापदण्ड माना जाय, तब तो हमें कुछ कहना ही नहीं। ग्रामीण शब्दोके प्रयोग तथा शब्दोके तोड-मरोडके लिये कबीर आदिको दोषी ठहराया गया है। इसमें संदेह नहीं कि कहीं-कहीं ग्रामीण शब्द भावाभिव्यक्तिमें अत्यन्त सफल होते हैं। अत. भावोकी प्रेषणीयताकी दृष्टिसे यह गुण ही माना जायगा। जहाँ तक शब्दोके तोड-मरोड़का प्रश्न है, यह सर्वविदित है कि 'नवरत्न' में स्थान पाये हुए कवियोमेंसे भी कुछने बड़े इतमीनानके साथ इसकी छूट ले रखी है। फिर बिचारे संत-कवियो पर ही यह आक्षेप क्यो? वे तो ग्रामीण भाषाके कवि थे ही।

पूर्व-मध्ययुगके अन्य संत-कवियोने भी 'निर्गुणिया' भाषाका ही व्यवहार किया है। कबीरका इन कवियोसे स्पष्ट अन्तर यह है कि प्रचार-क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक सीमित होनेके कारण कबीरकी भाँति इनकी

---

* 'सन्त-वाणी' की प्रस्तावना (पृ० ७) · वियोगी हरि।

† 'कबीर' (पृ० २१६) प० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

भाषामें अधिक मिश्रण नहीं होने पाया है। कबीरके शिष्य धरमदास की भाषा मूलतः पूर्वी हिन्दी है। मंगल-विषयक एक 'शब्द' से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

"सूतल रहलो मैं सखिया, तो विष कर आगर हो।
सतगुरु दिहलें जगाइ, पायो सुखसागर हो॥
जब रहली जननी के ओदर, परम सम्हारल हो।
जब लौ तन में प्रान, न तोहि बिसराइब हो॥
एक बूँद से साहेब, मन्दिल बनावल हो।
बिना नेव के मन्दिल, बहु कल लागल हो॥"

साधारणतः कबीरकी भाषाकी अपेक्षा इनकी भाषामें अधिक माधुर्य मिलता है। कारण यह है कि इन्होंने खंडन-मंडनकी ओर अधिक ध्यान न देकर प्रेम-तत्त्वको ही काव्यका विषय बनाया है। नानककी मूल भाषा यद्यपि पंजाबी है; पर व्रजभाषा और खड़ी बोलीमें भी उनकी कवितायें मिलती हैं, जिन पर पंजाबीका स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है। दादूकी भाषामें राजस्थानी और गुजरातीका अनुपात बराबर मिलता है। कुछ पदों पर पंजाबीकी छाया है, किन्तु वे नगण्य हैं। नानक और दादूके पद पूर्वी हिन्दीमें नहीं पाये जाते। इनकी भाषामें अरबी-फारसीके भी शब्द हैं। मलूकदासकी भाषा कुछ व्यवस्थित और अपेक्षाकृत सरस है। स्वभाविक होनेके साथही उसमें ओज भी है। नानककी ही तरह उन्होंने भी अरबी-फारसीके शब्दोंका प्रयोग किया है।

उत्तर-मध्ययुगीन संत-कवियोंने 'निर्गुणिया' भाषाका प्रयोग नहीं किया। 'निर्गुणिया' भाषासे हमारा अभिप्राय कुछ निर्गुण-संतो-द्वारा प्रयुक्त उस बहुमिश्रित भाषासे है, जिसे हिन्दी-साहित्यके विद्वान आलोचकोंने 'पँचमेल खिचड़ी' कहा है। अधिकतर उत्तरवर्त्ती संतोकी भाषा

अनेक बोलियोका मिश्रण नही। उन्होंने ठेठ व्रजभाषामें लिखा है। तथापि कहीं-कही बाह्य प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ते है। अष्टछापके कवियो की सी साहित्यिक व्रजभाषा उनकी कवितामे नही मिलती। इस वर्गमें रज्जब, धरनीदास, बुल्ला साहब, गुलाल, चरणदास, गरीबदास, जगजीवनदास, दयाबाई, सहजोबाई और तुलसी साहब आदि सतोके नाम उल्लेखनीय हैं। बुल्ला साहब, गुलाल और धरनीदासकी भाषा पर कुछ-कुछ पूर्वी प्रभावभी लक्षित होता है। धरनीदास फारसीके भी अच्छे ज्ञाता थे। 'अलिफनामा' में उनका फारसी-ज्ञान दीख पडता है। सुन्दरदासने व्रजभाषामें ही लिखा है, यद्यपि इनकी व्रजभाषा साहित्यिक थी। विद्वान् होनेके कारण इन्होने अधिक शुद्ध, परिमार्जित और व्याकरण-सम्मत भाषाका प्रयोग किया है। इनकी कुछ कवितायें पजाबी, गुजराती, सस्कृत और फारसी-मिश्रित भी है, जैसा 'लघुग्रंथावली' और अन्य फुटकर पदोकी भाषाके अध्ययनसे ज्ञात होता है।

सूफियोकी सारी रचनायें अवधी भाषामें है। उनकी अवधी ठेठ ग्रामीण है, जिसमे ग्रामीण शब्दावली और लोकोक्तियाँ प्रकीर्णतया उपलब्ध होती है। बोलचालके अनुरूप उच्चारणोके संक्षिप्तीकरण की अकृत्रिम प्रवृत्ति जायसीके काव्यमें बहुलतासे पायी जाती है। सबध-वाचक सर्वनामो और अव्ययोका लोप तो प्रचुर परिमाणमें है ही, अनेक स्थानो पर तो विभक्तियोका भी अध्याहार करना पड़ता है। फारसीके दो-एक वाक्य-खंड 'पदमावत' में ज्यो-के-त्यो रख दिये गये है। दरबारके वर्णनमें तो इन शब्दोकी और भी अधिकता हो गयी है। 'पदमावत' मे सस्कृतके कुछ शब्द तत्सम-रूपमे मिलते है, जिनके आधार पर हरिऔध जी ने जायसीकी भाषा को ठेठ अवधी नहीं माना है[*]।

---

[*] "उसमें (जायसीकी भाषामें) अन्य भाषाओ तथा बोलियोके अतिरिक्त अधिकतर संस्कृतके तत्सम शब्द भी सम्मिलित है, जो ठेठ

'अखरावट' की तो शब्दावली ही अरबी-फारसीकी है। पर इससे भाषाके मूल स्वरूपमें विकार नही होने पाया है। जायसीकी भाषा कुतुबन और मंझन आदि पूर्ववर्त्ती सूफी-कवियोकी तुलनामें काफी प्रौढ़ है। उनकी अवधीमें भाषाका जो सरल, स्वाभाविक और लोक-प्रचलित रूप मिलता है, वह उनके पूर्ववर्त्ती सूफियोको तो प्राप्त नही ही था, परवर्त्ती कवि भी ग्रामीण भाषाका वह आदर्श प्रस्तुत नही कर सके।

संतोकी यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि प्रत्येक भाव उनकी वाणीमें मँजी हुई शैलीमें अभिव्यक्त हुआ है। शायद इसका कारण यह है कि उन्होंने जो कुछ भी कहा है, उसमें आत्मीयताका, आत्मानुभूतिका अंश प्रधान है। "उनकी शैली निश्चयात्मक होती है, क्योंकि वह जीवन-मूलक होती है। × × × वह वाणीका विलास नही, जीवनका निचोड़ है।" * यही कारण है कि हिन्दू-मुसलिम-एकतासे लेकर ब्रह्मके एकत्व तकका प्रतिपादन उन्होंने वैसे ही प्रभावपूर्ण शब्दोमें किया है। "अकह कहानीको रूप देकर मनोग्राही बना देनेकी जैसी ताकत कबीरकी भाषामें है, वैसी बहुत कम लेखकोमें पायी जाती है। असीम, अनन्त ब्रह्मानंदमें आत्माका साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणीके अगोचर, पकड़में न आ सकनेवाली ही बात है। पर 'बेहद्दी मैदानमें रहा कबीर सोय' में न केवल उस गंभीर निगूढ तत्त्वको मूर्त्तिमान कर दिया गया है, बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृतिकी मुहर भी मार दी गयी है।" † चाहे

अवधीमे कभी व्यवहृत नही हुए। ऐसी अवस्थामे हम उसे ठेठ अवधीमे लिखा स्वीकार नही कर सकते।"

— 'हिन्दी भाषा और साहित्यका विकास'
पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'।

* 'संत-वाणी' की प्रस्तावना (पृ० ७) वियोगी हरि।

† 'कबीर' (पृ० २१६) पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

ब्रह्मानुभूतिका प्रकाशन करना हो, या बाह्याडम्बरका खंडन— सर्वत्र भाषा उपयुक्त और सशक्त दीख पड़ती है।

यह सभी जानते हैं कि ब्राह्मण और शूद्र, दोनोंमें एक ही रक्त प्रवाहित हो रहा है। दोनोमें तत्त्वतः कोई भेद नहीं। फिर भी व्यावहारिक जगत् में जो ऊँच-नीच और अस्पृश्यताका वातावरण है, उसके सामने यह सैद्धान्तिक सत्य बिलकुल फीका पड़ जाता है। ऐसे प्रसंगमें संतोंकी प्रखर भाषाने तर्कको और भी तीक्ष्ण बनाकर प्रकट किया है। गरीबदास कहते हैं—

"कैसे ब्राह्मण कैसे सूद्र। एकै हाड़ चाम तन गूद॥
एकै बिन्द एक भग द्वारा। एकै सब घट बोलनहारा॥"

पंडितोंके ढोंगका निदर्शन करने वाला यह व्यंग्यपूर्ण पद सामान्य कथनकी अपेक्षा सौगुना अधिक प्रभावोत्पादक है, इससे कौन इनकार कर सकता है!

"पंडित पढि गुनि भये बिलाई।
ज्यों मजार चूहाके पावे, पकड़ि तुरन्तहिं खाई॥
जब अज्या की मूडी आई, लड़िकन धून्ध मचाई।
ननिक ननिक लड़िकन कर दीन्हें, सरब मगौती खाई॥
यह अचरज कहवे जोग नाही, को बाम्हन को अहै कसाई।
दुविधा करि करि दूनो मारहि, यह लहुरे वह जेठे भाई॥"
—दरिया साहब (बिहारवाले)।

इसी प्रकार बाह्याडंबरपूर्ण योगियोंकी आलोचनाके लिए शैली की दृष्टिसे साहित्यमें ऐसी पंक्तियाँ विरल हैं।

"मन ना रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा।
आसन मारि मंदिरमें बैठे, ब्रह्म छाड़ि पूजन लागे पथरा॥
कनवां फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौले, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा।

जगल जाय जोगी धुनिया रमौले, काम जराय जोगी होइ गैले हिजरा ॥
मथवा मुँडाय जोगी कपडा रँगौले, गीता बाँचके होइ गैले लबरा ।
कहहिं कबीर सुनो भाई साधो, जम दरवाजा बाँधल जैबे पकडा ।''
—कबीर ।

''व्यंग्य करने और चुटकी लेने मे कबीर अपना प्रतिद्वन्द्वी नही जानते । पडित और काजी, अवधू और जोगिया, मुल्ला और मौलवी—सभी उनके व्यंग्यसे तिलमिला जाते है । अत्यन्त सीधी भाषामें वे ऐसी गहरी चोट करते है कि चोट खानेवाला धूल झाड़के चल देनेके सिवा और कोई रास्ता ही नही पाता'' * । शैलीकी यह वक्रता संत-साहित्यके अन्य कवियोमे भी न्यूनाधिक रूपमे पायी जाती है ।

अनेक स्थलोपर संतोका विरह-वर्णन मीराके पदोका स्मरण करा देता है । विरहकी मार्मिकताको उन्होने जिस रूपमे अनुभव किया है, उसी रूपमे उसे व्यक्त कर देनेकी उनमें अपूर्व क्षमता है—

''तलफै बिन बालम मोर जिया ।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, तलफ तलफके भोर किया ।
तन-मन मोर रहँट-अस डोलै, सून सेज पर जनम छिया ॥
नैन थकित भये पंथ न सूझै, साईं बेदरदी सुध न लिया ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरो पीर दुख जोर किया ॥''
—कबीर ।

या

''साईं बिन दरद करेजे होय ।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, कासे कहूँ दुख होय ॥
आधी रतियाँ पिछले पहरवा, साईं बिना तरस तरस रही सोय ।

---

* वही ।

कहै कबीर सुनो भाई प्यारे, साई मिले सुख होय ॥"

—कबीर।

या

"हमरी उमिरिया होरी खेलनकी, पिय मोसों मिलिके बिछुरि गयो हो ॥
पिय हमरे हम पियकी पियारी, पिय बिच अंतर परि गयो हो ॥
पिया मिले तब जियौं मोरी सजनी, पिय बिन जियरा निकरि गयो हो ॥
इत गोकुल उत मथुरा नगरी, बीच डगर पिय मिलि गयो हो ॥
धरमदास बिरहिनि पिय पावे, चरण कमल चित गहि रहा हो ॥"

—धरमदास।

या

"देखो पिया काली घटा मो पै भारी।
सूनी सेज भयावन लागी, मरौं बिरह की जारी ॥
प्रेम प्रीति यहि रीति चरन लगु, पल छिन नाहि बिसारी।
चितवन पथ अंत नहि पायो, जन बुल्ला बलिहारी ॥"

—बुल्लासाहब।

इन पंक्तियोंको पढकर कौन ऐसा सहृदय होगा, जो संतोंकी मार्मिक शैलीका कायल न हो जाय। ब्रह्मकी अनुभूतिको कबीरने जिस प्रकार अभिव्यक्त किया है, उसे देखते हुए भाषा पर उनका अधिकार मानना पड़ता है। ऐसी पंक्तियाँ संत-साहित्यमें अत्यन्त सुलभ हैं, जो असीम, अरूप प्रियतमके प्रेम को, उसके प्रेमके प्रभावको, सीधी शैलीमें, पर अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूपमें व्यक्त करती हैं—

"हिरदे में महबूब है, हरदम का प्याला।
पीवेगा कोई जौंहरी, गुरुमुख मतवाला ॥
पियत पियाला प्रेमका सुधरे सब साथी।
आठ पहर झूमत रहे, जस मैगळ हाथी ॥" —कबीर।

इन पंक्तियोंको पढ़कर पाठक भी झूम जाता है, और यही सफल अभिव्यञ्जनाकी पहचान है ।

इसमें संदेह नहीं कि खंडन-मंडन या उपदेश-योजना तथा मधुर भावोंकी अभिव्यक्तिमें संतोको अत्यन्त सफलता मिली है । पर उन्होंने अपनी सरल भाषामें अद्वैत जैसे गूढ़ विषयका जिस सुबोध रूपमें निरूपण किया है, उसे देखकर आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ता है ।

"जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहरि भीतरि पानी ।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यहु तत कथौ गियानी ।।"

—कबीर ।

या

"दरिया की लहर दरियाव है जी, दरिया और लहर में भिन्न कोयम् ।
उठे तो नीर है, बैठे तो नीर है कहो जी दूसरा किस तरह होयम् ।।
उसी का फेर के नाम लहर धरा, लहर के कहे क्या नीर खोयम ।
जक्त ही फेर सब जक्त परब्रह्म में, ज्ञान कर देख माल गोयम् ।।"

—कबीर ।

संत-काव्यमें अनेक स्थलों पर शैलीगत दुरूहता लक्षित होती है । इसके कई कारण हैं—

(१) उनके प्रतीकों से अनभिज्ञता,
(२) उनकी भाषाकी प्राचीनता,
और (३) सहानुभूति का अभाव ।

सहानुभूतिका अभाव ही वस्तुतः ऐसा कारण है, जो हमें संतों तक पहुँचने नहीं देता । अन्य कठिनाइयाँ तो सहज ही हल की जा सकती है । जहाँ तक संतोंके कूटपदोंका प्रश्न है, वे निस्संदेह दुरूह हैं । पर वे प्रतीकोंके ज्ञानके द्वारा सहज ही बोधगम्य हो सकते हैं । इस प्रकारके कूटपद केवल संत-साहित्य या अन्य साहित्योंमें ही नहीं, लोक-जीवनमें भी प्रचुर परिणाममें पाये जाते हैं । ग्रामीण जीवनमें

विवाहादिके अवसरोपर पूछे जानेवाले विचित्र, ऊटपटांग प्रश्नोके रूपमें यह परंपरा आज तक चली आ रही

लोकगीतोकी यह विशेषता है कि उसमें काव्यके वाहरी धर्मों पर ध्यान नही दिया जाता। भाषाके बनाव-शृंगारकी ओर संत-कवियों की दृष्टि नही गयी; और यह उनका ध्येय भी नहीं था। स्वाभाविक रूपसे जो अलंकार लोकगीतोमें प्रयुक्त हुआ करते है, वही सतोंकी कवितामें मिल सकते है। श्रमसाध्य अलकारो या शास्त्रीय कवि-प्रसिद्धियोंका सन्त-काव्यमें सर्वथा अभाव है, जो उन्हे शिष्ट-काव्यसे पृथक् करता है। "सन्तोके अलंकारोकी सबसे बड़ी विशेषता उनकी मौलिकता है। अधिकतर ऐसे ही अलकारोका प्रयोग है, जो साम्य पर निर्भर है, और लगभग सभी अप्रस्तुत परंपरागत न होकर घरेलू, पंडित-समाजमें सर्वविदित न हो कर मौलिक, किसी विशेष शास्त्रगत न होकर सामान्य जीवनगत, नागरिक न होकर ग्रामीण है।" सूफियोंने अन्य सतोकी अपेक्षा कवि-प्रसिद्धियोका विशेष आश्रय लिया है। कबीर आदिने अनुभव-सिद्ध उपमानो तथा प्रयोग-प्रवाहसे गृहीत लोकोक्तियोंके रूपमें काव्य-क्षेत्रमें अत्यन्त मौलिक उद्भावनायें की है—

"साधू ऐसा चहिये, जैसा सूप सुभाइ।
सार सारको गहि रहै, थोथा देइ उडाइ॥" (उपमा)।
"पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जात।
देखत ही छिप जायगी, ज्यो तारा परभात॥" (उपमा)।
माया दीपक नर पतग, भ्रमि भ्रमि माँहि परत।
कहै कबीर गुरु ज्ञान तें, एक आध उबरत॥"
(रूपक)।
"ज्यो गूंगेके सैन को, गूंगा ही पहचान।
त्यो ज्ञानीके सुक्खको, ज्ञानी होय सो जान॥"
(उपमा)।

"आछे दिन पाछे गये, गुरु से किया न हेत।
अब पछतावा क्या करै, चिड़ियाँ चुग गई खेत ॥"

(लोकोक्ति) ।

"नैनो की करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय।
पलको की चिक डारिके, पिय को लिया रिझाय ॥

(साङ्गरूपक) ।

"साहेब मोरे दीन्ही चोलिया नई।
तीन पाँच मोरि चोलिया कै घड़ी,
लागी कुमति सुमतिया की पाती ॥
यह चोलिया मोरे ससुरे से आई,
चोलिया पहिरि धनि भई अलमाती ॥
सुनहु हो मोरो पार परोसिन,
यह चोलिया विरला जन जानी।
पहिले विवाह मोर भयो सतगुरु से
चोली के बंद मोरे सतगुरु खोली ॥
धरमदास विनवै कर जोरी,
बिसरि गई नइहरवा की बोली ॥"

(रूपक) ।

"माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरगुन फाँस लिये कर डोल, बोलै मधुरी बानी ॥"

(श्लेष) ।

"लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल ॥"

(यमक) ।

"एक दिन ऐसा होयगा, कोउ काहू का नाहिं।

घर की नारी को कहै, तन की नारी जाहि ॥"

(यमक) ।

"माला फेरत युग गया, गया न मन का फेर ।
कर का मनका छाडि कै, मन का मनका फेर ॥"

(यमक) ।

"एक सब्द सुखरास है, एक सब्द दुखरास ।
एक सब्द बधन कटे, एक शब्द गलफांस ॥"

(काव्यलिंग) ।

"ज्यो तिल माही तेल है, ज्यो चकमक में आगि ।
तेरा साईं तुज्झ में, जागि सकै तो जागि ॥"

(उपमा) ।

"अपनपो आप ही विसरो ।
जैसे सोनहा काँच मँदिर में भरमत भूँकि मरो ॥
जो केहरि वपु निरखि कूपजल प्रतिमा देखि परो ।
ऐसेहि मदगज फटिक सिला पर दसननि आनि अरो ॥
मरकट मुठी स्वाद ना विसरै घर घर नरत फिरो ।
कह कबीर ललनी कै सुअना तोहि कौने पकरो ॥"

(उदाहरण) ।

"माया मुख जागै सबै, सो सूता कर जान ।
दरिया जागे ब्रह्म दिस सो जागा परमान ॥"

(विरोधाभास) ।

इसी प्रकार स्वभावसिद्ध रूपमें अलंकारोका प्रवेश हुआ है, उनकी योजना नहीं की गयी । कवि-प्रसिद्धियाँ भी वही आयी है, जो लोकजीवन से घनिष्ठ सबध प्राप्त कर चुकी है । विरोधाभासका सत-काव्यमें अन्य अलकारोकी अपेक्षा अधिक प्रयोग है । प्रायः सारी उलटबासियोंका आधार विरोधाभास ही है ।

सूफियोंके काव्यमें परम्परागत काव्य-प्रसिद्धियाँ और अलकार अधिक मात्रामें हैं। जायसीका नख-शिख-वर्णन काव्य-प्रसिद्धियोंसे भरा पड़ा है—

"भौंहैं स्याम धनुक जनु ताना। जा सहुँ हेर मार विष-बाना॥"

या

"स्रवन सीप दुइ दीप सँवारे। कुडल कनक रचे उजियारे॥"

या

"हिया थार, कुच कंचन लारू। कनक कचोर उठे जनु चारू॥"

व्यतिरेकके दो एक परपराभुक्त उदाहरण निम्नलिखित हैं—

"का सरिवर तेहि देउँ मयकू। चाँद कलकी, वह निकलकू॥
औ चाँदहि पुनि राहु गरासा। वह बिनु राहु सदा परगासा॥
सुआ, सो नाक कठोर पँवारी। वह कोमल तिल-पुहुप सँवारी॥"

फारसीका अत्यधिक प्रभाव होनेके कारण कहीं-कहीं जायसीने अतिशयोक्तिकी सीमा स्पर्श कर ली है—

'राते कँवल करहिं अलि भवाँ। घूमहिं माति चहहिं अपसवाँ॥"

(रूपकातिशयोक्ति)।

शुक्ल जी ने 'जायसी' ग्रंथावली' की भूमिकामें उन के अलंकारों पर विस्तारके साथ विचार किया है। उन्हींके द्वारा निर्दिष्ट अलकारोंमेंसे कतिपय उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(१) "कहाँ छपा ऐ चाँद हमारा। जेहि बिनु रैनि जगत अँधियारा॥"

(विनोक्ति)।

(२) 'सिह न जीता लक सरि, हारि लीन्ह बनवासु।
तेहि रिस मानुस-रकत 'पिय, खाइ मारि' कै माँसु॥

(प्रत्यनीक)।

(३) "नित गढ बाँचि चलै ससि सूरू। नाहित होइ बाजि रथ चूरू॥"

(सबधातिशयोक्ति)।

(४) "मिलिहहि बिछुरे साजन, अकम भेटि गहत ।
तपनि मृगसिरा जं सहहि, ते अद्रा पलुहन ॥"

(अर्थांतरन्यास) ।

(५) "का भा जोग-कथनि के कथे । निकगै घिउ न विना दधि मथै ।"

(दृष्टान्त) ।

(६) "घट महँ निकटँ, विकट होइ मेरु । मिलहि न मिले परा तस फेरु ।"

(विशेषोक्ति) ।

(७) "ना जिउ जिए,न दसवँ अवस्था । कठिन मरनेते प्रेम-बेवस्था ।"

(विरोध) ।

(८) "भूलि चकोर दीठि मुख लावा ।"

(भ्रम) ।

(९) "नयन-नीर सौ पोता किया । तस मद चुवा वरा जस दिया ॥"

(परिणाम) ।

(१०) "जीभ नाहि पै सब किछु बोला । तन नाही सब ठाहर डोला ॥'

(विभावना) ।

(११) "रतन चला, भा घर अँधियारा ।"

(परिकराकुर) ।

शास्त्रोमें वस्तु-कथनके तीन प्रकारोका उल्लेख है, जिन्हें आलंकारिक भाषामे स्वभाव-कथन, रूपक-कथन और अतिशयोक्ति-कथन कहा जा सकता है । वस्तुका यथातथ्य वर्णन स्वभाव-कथन है । इसका उपयोग कवियोकी अपेक्षा वैज्ञानिक अधिक करते है । रूपकालकारका आश्रय लेकर कुछ कहनेकी प्रणाली रूपक-कथन है । वेदोमें इसका बहुशः प्रयोग हुआ है, जहाँ सूर्यकी सतरंगी किरणोपर सप्ताश्वोका आरोप किया गया है । अतिशयोक्ति-कथन पुराणोकी सबसे बड़ी विशेषता है,

जिसकी ओर पाठकका ध्यान सबसे पहले जाता है। निर्गुण-कवि जितना वेदो और उपनिषदोकी परंपराके निकट है, उतना पुराणो की परंपराके नहीं। वेदोकी ही तरह उन्होंने रूपक-कथनका विशेष सहारा लिया है, लेकिन उन्हीं स्थलोपर, जहाँ उन्हें रहस्यात्मक अनुभूतिको व्यक्त करना है। अन्यत्र तो वे उतने ही स्पष्ट है, जितना तथ्य-कथनके समय वैज्ञानिक हुआ करता है।

निर्गुण-साहित्यके कुछ पारिभाषिक शब्द और प्रतीक

मनुष्य भाषाको परम्परासे प्राप्त करता है। भाषाके अन्तर्गत पारिभाषिक शब्दों और प्रतीकोंकी एक बड़ी संख्या होती है, जिसके पीछे लक्षणा और व्यजनाकी प्रेरणा काम किया करती है। ऐसे शब्दोंके निर्माणके मूलमे अभिव्यक्तिकी अपूर्णता, नूतन चिन्तन-पद्धतिका आकर्षण और प्रयत्न-लाघवकी प्रवृत्ति आदि अनेक कारण हुआ करते हैं। कभी-कभी तो कोई विशेष उपमान बार-बार एक ही उपमेयके लिये व्यवहृत होते-होते उसका प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार भाषाके निरन्तर व्यवहारसे ही पारिभाषिक शब्दों और प्रतीकोंका निर्माण होता रहता है। धार्मिक साहित्यमें दार्शनिक विचारोंका प्रेषण और आध्यात्मिक तथ्योंका निरूपण होनेके कारण इस प्रकारकी शब्दावलीका आश्रय अनिवार्य है। निर्गुणकी अनिर्वचनीयताके कारण आलोच्य साहित्यमें तो इसका स्थान और भी प्रमुख है। निर्गुण-सन्तोंके अधिकांश ऐसे शब्द उनके द्वारा प्रयुक्त अर्थोंमें रूढ़ हो चुके हैं, और आज भी व्यवहृत होते हैं। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि निर्गुणियोंके समस्त पारिभाषिक शब्द और प्रतीक उनकी अपनी सृष्टि हैं। उन्होंने परम्परासे बहुत-कुछ लिया है, और नयी परम्पराका निर्माण भी कर गये हैं। लाक्षणिकता और आर्थगाम्भीर्यसे युक्त नये शब्दोंका प्रयोग बहुत ही उत्तरदायित्वपूर्ण काम है, क्योंकि इससे भाषाकी शक्तिका संकोच और विस्तार, दोनों ही सम्भव हैं। ऐसी अवस्थामें पारिभाषिक शब्दों और प्रतीकोंके व्यवहारमें केवल गतानुगतिकताका अनुरोध भी हानिकारक है, और परम्पराकी सर्वथा उपेक्षा

थी। नवीनताके साथ परम्पराका मणि-कांचन-संयोग ही इस विषयमें सबसे अच्छा मार्ग है, जिसे सन्त-कवियोंने अपनाया। यही कारण है कि उनके प्रतीकोंसे भाषाकी अभिव्यंजना-शक्तिको पर्याप्त बल मिला है। विचार-सौकर्यके लिये हम उनके प्रचलित पारिभाषिक शब्दों और प्रतीकों के निम्नलिखित सामान्य विभाग कर सकते हैं:—

परम्पराभुक्त और परम्परामुक्तन

- परम्पराभुक्त
  - दर्शन-सम्बन्धी
  - कविप्रसिद्धिप्राप्त
- परम्परामुक्तन
  - दर्शन-सम्बन्धी
  - लोकजीवन-सम्बन्धी

(क) परम्पराभुक्त—परम्परागत पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग संत-कवियोंकी सांस्कृतिक जागरूकता और उनके सर्वसुलभ अभिव्यक्तिके प्रयासका परिचायक है। ये शब्द उन्होंने प्रायः सत्संगसे प्राप्त किये हैं।

दर्शन-संबंधी.—निर्गुण-कवियोंके दार्शनिक शब्दावलीसे परिचित होनेका एकमात्र कारण सत्संग है। पर ये कवि अधिकांशमें अक्षरज्ञान-शून्य थे, इसलिये स्वभावतः दार्शनिक शब्दोंके प्रयोगमें कहीं-कहीं वैज्ञानिकता का पूरा निर्वाह नहीं कर सके। इन शब्दोंमें से अधिकांशका संबंध वेदान्त, सांख्य और योग से है। अनेक ऐसे दर्शन-संबंधी शब्दोंके स्थान पर उन्होंने संख्यावाचक प्रतीकोंका भी प्रयोग किया है। इन संख्यावाचक प्रतीकोंका अलग विभाग इसलिये नहीं किया जा सकता कि इनमेंसे अधिकांश दर्शनकी सीमाके ही अन्तर्गत आ जाते हैं।

अष्टाङ्ग योग—

योग-साधनाके आठ अंगोंको पारिभाषिक शब्दावलीमें 'अष्टाङ्ग योग' कहते हैं। वे हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें प्रथम तीनका सम्बन्ध बाह्य

साधनासे अधिक है, और शेषका अन्तस्साधना से। ब्रह्मकी प्राप्ति निर्विकल्प समाधिकी अवस्थामें होती है, जहाँ तक पहुँचनेके लिये शारीरिक और आत्मिक शुद्धिके इन आठ सोपानोंको पार करना आवश्यक होता है। यममें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह तथा नियममें पवित्रता, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधानका विधान किया गया है। अध्यात्म-चिन्तनके समय शरीरको विशेष प्रकारकी स्थितियोंमें रखनेका नाम 'आसन' है। इससे शरीर और मन दोनों ही शुद्ध होते हैं। प्राणायाम श्वास–प्रश्वासकी यौगिक क्रिया है, जिससे साधक अपने स्नायु-केन्द्रो पर पूर्ण अधिकार कर लेता है। आसन और प्राणायामके सिद्ध होने पर मनुष्य सभी प्रकारकी आधि–व्याधियोंसे छुटकारा पा जाता है, और उसमें एकाग्र होनेकी शक्ति आती है, मन पर अधिकार हो जाता है। प्रत्याहार में साधक इन्द्रियोंको इस तरह वशमें कर लेता है कि उनसे मनोनुकूल काम ले सके। इस अवस्था तक आते–आते मन इन्द्रियोंका दास नहीं रह जाता, बल्कि उनका स्वामी बन जाता है। अत आध्यात्मिक चिन्तनमें किसी प्रकारका व्यवधान साधकको नहीं होता। धारणामें मन उपास्यके स्वरूप पर केन्द्रित हो जाता है, और ध्यानकी अवस्था तक आते–आते उस स्वरूपके अतिरिक्त अन्य सभी विषय मनकी सीमा से बाहर छूट जाते हैं। इसके बाद समाधिकी अवस्था है, जिसमें साधक अपने अस्तित्व को अपने उपास्यमें लीन कर देता है। यही हठयोग की चरम परिणति है।

नाड़ी––

यों तो शरीर में नाडियोंका जाल ही बिछा हुआ है, पर साधना की दृष्टिसे दस नाडियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। इनके स्थानके साथ–साथ इनके अधिष्ठित देवताओंकी भी कल्पना की गयी है।

नाडी	स्थान	देवता
इड़ा	शरीरकी बाईं ओर	हरि
पिंगला	शरीरकी दाहिनी ओर	ब्रह्मा
सुषुम्णा	शरीरके मध्यमें	रुद्र
गान्धारी	बाईं आंखमें	इन्द्र
हस्तजिह्वा	दाहिनी आंखमें	वरुण
पुष्य	दाहिने कानमें	ईश्वर
यशस्विनी	बायें कानमें	ब्रह्मा
कुहू	लिंगस्थानमें	पृथ्वी
अलम्बुषा	मुखमें	सूर्य
शङ्खिनी	मूलस्थानमें	चन्द्र

इन नाडियोंमें प्रथम तीन अधिक प्रधान हैं, और सुषुम्णा सबसे अधिक। शायद इसीलिये सुषुम्णाके अधिष्ठित देवताके रूपमें रुद्रकी कल्पना की गयी है, जिन्हें आदि-योगी कहा जाता है। सुषुम्णाको योग-नाड़ी भी कहते हैं। कुण्डलिनी शक्ति उद्बुद्ध होकर इसी नाडीके मार्गसे ऊर्ध्वमुख प्रवाहित होती है।

गंगा, यमुना और सरस्वती—

इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा नाडियोंको ही क्रमश. गंगा, यमुना और सरस्वती कहा गया है।

षट्चक्र—

योग-शास्त्रमें मानव-शरीरके अन्तर्गत छ चक्रोंकी कल्पना की गयी है—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। चक्रोंकी सख्याके सम्बन्धमें कई मत हैं। कुछ तान्त्रिक ग्रन्थोंमें नौ चक्रोंकी कल्पना की गयी है। 'अद्वैत-मार्तण्ड'के अनुसार तो इनकी सख्या पचास है।

कुंडलिनी शक्ति—

(देखिये पृ० ९५–१००)

नाद—

कुण्डलिनी शक्तिके ऊर्ध्वमुखी होते ही एक प्रकारका शब्द-स्फोट होता है, जिसे नाद कहते हैं।

त्राटक—

हठयोगकी प्राथमिक अवस्थामें चित्तकी एकाग्रताके लिये किसी निश्चित विन्दु पर ध्यान जमानेके एक अभ्यास-विशेषको त्राटक कहते हैं

त्रिकुटी—

दोनो भौंहोंके बीचका स्थान, जहाँ साधक अपने ध्यानको केन्द्रित किया करते हैं।

बन्ध—

बन्ध तीन हैं—मूल बन्ध, उड्डीयान बन्ध और जालन्धर बन्ध प्राणायामके अभ्यासके साथ-साथ बन्धोंके लगानेका विधान है। गुदा-द्वारको ऊपरकी ओर सिकोड़नेकी प्रक्रिया मूल बन्ध है, उड्डीयान बन्धमें पेटको यथासम्भव पीठकी ओर ले जाते हैं, और जालन्धर बन्धमें ठुड्डीको सीधे नीचेकी ओर छातीकी हड्डीके सबसे ऊपरी हिस्सेके साथ लगाना पड़ता है। इनमें मूलबन्ध सर्वश्रेष्ठ है। इससे शुक्रका प्रवाह ऊर्ध्वमुख होने लगता है, और साधक ऊर्ध्वरेता योगी हो सकता है।

शून्य—

सन्तोंने इसे 'सुन्नि' भी कहा है। माध्यमिक सम्प्रदायके प्रवर्त्तक आचार्य नागार्जुनने परम तत्त्वकी अनिर्वचनीयताको व्यक्त करनेके लि सर्वप्रथम 'शून्य' शब्दका व्यवहार किया था, जो सिद्ध और नाथ

पथोंके माध्यमसे निर्गुण-सन्तोके द्वारा ग्रहण कर लिया गया। पर कालांतर में इसके अर्थमें थोड़ा परिवर्त्तन हो गया है। नागार्जुनने 'शून्य' की व्याख्या करते हुए कहा है-- 'इसे शून्य भी नहीं कह सकते, अशून्य भी नहीं कह सकते। फिर भी, यह भी नहीं कह सकते कि यह न शून्य है, न अशून्य। जो इस शून्यता को समझता है, वह सभी अर्थोंको समझता है। जो इसे नहीं समझता, वह कुछ भी नहीं समझता'। नाथपथी योगियों ने सहस्रार चक्रको 'शून्य चक्र' कहा है। इससे उनका तात्पर्य उस अवस्थाको व्यक्त करना है, जो कुंडलिनी शक्तिका सहस्रार चक्रसे सयोग होने पर अनुभव की जाती है। इस प्रकार नाथपथियोंका 'शून्य' नागार्जुनके 'शून्य' से कुछ भिन्न अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, और इसका सीधा सम्बन्ध आस्तिक हठयोगकी परम्परासे है, जिसमें ब्रह्मरन्ध्रके छिद्रको 'शून्य' कहा गया है, जहाँ योगको निर्विकल्प समाधिकी अवस्था में अमृतकी वर्षासे अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। सहजयानी सिद्धो और नाथपंथियोने 'शून्य' और 'सहज' का साथ-साथ प्रयोग किया है। इनकी चरम साधना सहजावस्थाकी प्राप्ति है, जो जीवके 'शून्य चक्र' में पहुँचने पर होती है। कबीर आदि निर्गुण-सन्तोंने भी 'शून्य' के इसी अर्थको ग्रहण किया है। 'शून्य' आकाशको भी कहते हैं, जो सर्वत्र व्याप्त है, और ब्रह्मकी व्याप्ति कुछ वैसी ही है, इसलिये 'शून्य' ब्रह्मके पर्यायके रूपमें भी व्यवहृत हुआ है। यदि 'आकाश' का तात्पर्य भौतिक आकाशसे नहीं लेकर उस आकाशसे लिया जाय, जो जीवके अन्तस्तलमें परिव्याप्त है, और मानवी सत्ताका केन्द्र है, तो 'शून्य' (आकाश) को ब्रह्मका पर्याय मनानेमें कोई कठिनाई नहीं रह जाती। उपनिषदोंमें इसका स्पष्ट निर्देश किया गया है— 'ॐ ३ खं ब्रह्म खं पुराणं वायुरं खमिति' ('बृहदारण्यक उपनिषद्')।

सुरति ---

'सुरति' की व्युत्पत्ति कई प्रकारसे की जाती है। इसे 'स्मृति' और

'श्रुति' दोनो शब्दोका अपभ्रंश माना गया है। सद्गुरुकी कृपासे जीवका अपने मूलोद्गमकी ओर ध्यान लगानेकी जो अवस्था होती है, उसकी ओर 'स्मृति' से व्युत्पन्न 'सुरति' संकेत करती है। इसे 'श्रुति' से निष्पन्न करने वालोकी युक्ति है श्रुति अर्थात् श्रवण (गुण-श्रवण), जो प्रेमका एक दृढ़ आधार हुआ करता है। कुछ विद्वान् 'सुरति' का संबंध 'स्वरति' से बताते हैं, जिसका तात्पर्य है 'अपनेमे लीन हो जाना' अर्थात् 'अपने मूल स्वरूपकी ओर उन्मुख होना'। 'सुरति' का अर्थ (सु + रति =) 'श्रेष्ठ रति' भी किया गया है, जिससे निकृष्ट लौकिक रतिके विपरीत 'आध्यात्मिक रति' का अर्थ लेते हैं। कबीरके 'आदि मंगल' में सृष्टि-प्रक्रियाके वर्णनके प्रसंगमें 'सुरति' का प्रयोग 'आदि ध्वनि' के अर्थमें भी हुआ है।

निरति—

सामान्यत 'निरति'से 'निवृत्ति'का अर्थ ग्रहण करके इसे 'सुरति'की पहलेकी अवस्था माना गया है। निरतिका तात्पर्य भौतिक जगत्से निवृत्ति है। पर डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वालने 'निरति'का अर्थ 'निरतिशय रति' लेकर इसे 'सुर्रात' अर्थात् 'सुष्ठु रति'की परिणतिके रूपमें ग्रहण किया है। उनके मतानुसार जब जीव आध्यात्मिक उपलब्धिकी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब सुरतिकी निरति-दशा होती है। उन्होने 'निरति'को 'नृत्य'का परिवर्त्तित रूप मानकर उसे ब्रह्मानन्दमें निमग्न जीवकी तन्मयावस्थाका द्योतक माना है।

अजपा जाप—

बहिर्मुखी सगुण-उपासनाका 'नाम-सुमिरन' ही अन्तस्साधना-प्रधान निर्गुण-उपासनाका 'अजपा जाप' है। यह मन्त्रयोगकी चरम परिणति है। 'अजपा जाप' शब्द ही विरोधाभासात्मक है, जिससे निर्गुण-

साधनाकी रहस्यात्मकता ध्वनित होती है। 'करका मनका छोड़कर मनका मनका फेरने'की चर्चा सन्त-साहित्यमें बहुशः हुई है।

(विस्तारके लिये देखिये पृ० १००–१०१)।

अनाहत नाद—

सत-साहित्यमें इसका प्रयुक्त रूप 'अनहद नाद' है। कबीरने इसे 'अनहद ढोल' भी कहा है। 'अजपा जाप'की तरह 'अनाहत नाद'में भी विरोधाभास है, क्योंकि भौतिक जगत् में नाद आघातसे ही उत्पन्न होता है। अनाहत नादकी अनुभूति योगीको निर्विकल्प समाधिकी अवस्थामें होती है।

नाद अनादि है। परब्रह्मकी शक्तिसे इसकी उत्पत्ति हुई है, इसलिये ब्रह्मकी उपलब्धिके मार्गमें नादका महत्त्वपूर्ण स्थान है। शैव-दर्शनमें डमरु और वैष्णव- दर्शनमें मुरलीकी अतिशय प्रशसा तथा निर्गुण-सन्तोका राम-मिलनके समय 'अनहद ढोल' बजाना इसी भावनाकी अभिव्यक्ति करते है। अन्तर यही है कि सगुणमतवादी होनेके कारण शैव और वैष्णव-दर्शनो में इसे डमरु और मुरलीके स्थूल प्रतीकोके माध्यमसे व्यक्त किया गया है, पर निर्गुण-परम्परामें उपासना-पद्धतिकी सूक्ष्मताके कारण इसका स्वरूप सूक्ष्म ही रहा है।

(विस्तारके लिये दे० पृ० ९८–९९, १०२)

अवधूत—

कबीरके अनेक पद अवधूत या अवधूको सम्बोधित करके कहे हैं। विश्वनाथ सिंह जू देव नें 'अवधू'की परिभाषा इस प्रकार की है– वधू जाके न होइ सो अवधू कहावं'। पर इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि अवधूत कुँआरे और विधुर पुरुषोंको कहते हैं; बल्कि इसका सकेत उन योगियोकी ओर है, जो विवाह आदि लौकिक बन्धनोसे मुक्त रहते है। इसमें सन्देह नहीं कि निवृत्तिमार्गी सन्तोंने अवधूतका

स्थान महत्त्वपूर्ण है। सुषुम्णा नाड़ीको, जो योग-साधनाके क्षेत्रमें सर्वप्रमुख नाड़ी है, अवधूती नाड़ी भी कहते हैं। बौद्ध तान्त्रिकोंने अवधूती वृत्तिकी भी कल्पना की है। तन्त्र-ग्रन्थोंमें चार प्रकारके अवधूत कहे गये ह—ब्रह्मावधूत, शैवावधूत, भक्तावधूत और हसावधूत, जो उत्त-रोत्तर एक दूसरेसे श्रेष्ठ हैं। हसावधूतो मेंभी जो पूर्ण होते हैं, वे परमहस कहे जाते हैं, और जो अपूर्ण होते हैं, वे परिव्राजक। कबीरदासने जिस 'अवधूत'को सबोधित किया है, वह गोरखपथी सिद्ध योगी है। कहीं-कहीं उन्होने गोरखनाथको भी 'अवधूत' कहा है। कई स्थलों पर वे अपनेको गोरखनाथकी परम्परामें रखनेकी चेष्टा करते हैं। इससे प्रकट होता है कि अवधूतको वे सम्मानकी दृष्टिसे देखते होगे। पर कुछ ऐसे भी पद हैं, जिनमें उन्होने कृच्छ्रसाधनाका विरोध किया है, और अवधूतोके प्रति भी कुछ अच्छे भाव नही दिखलाये हैं। स्पष्ट ही ये पद बाद के हैं, जब कबीर हठयोग—साधनाकी अवस्था से आगे बढ़कर सहज समाधि के पोषक बने।

खसम—

यह शब्द सन्त-साहित्यमें दो माध्यमोसे आया। सिद्धों की रचनाओंमें इसका जिस प्रकार प्रयोग हुआ है, उससे 'शून्योपम' या 'गगनोपम' का अर्थ निकलता है। 'ख' भारतीय गणितमें शून्यके लिये और उपनिषदोंमें आकाशके लिये बहुश प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार 'खसम' = ख + सम = शून्यके समान, आकाशके समान। पर कबीर आदि की रचनाओंमें इसका व्यवहार सामान्य अर्थमें भी हुआ है। इन दो अर्थों के मूल स्रोत दो हैं—संस्कृत और अरबी। अरबीमें 'खस्म' का अर्थ है झगड़ालू। ईरानीमें भी इसका यही अर्थ है, पर यहाँकी फारसीमें इसके अर्थ 'दुश्मन' 'साहब' 'मालिक' आदि होते हैं, जिनमें 'दुश्मन' वाला अर्थ अरबीसे प्रभावित है। लक्षणासे इसका प्रयोग झगड़ालू पति के अर्थमें

होता है। उर्दू और हिंदीमें इसका अभिधेय अर्थ 'पति' हो गया है। पं० चन्द्रवली पाडेका कहना है कि 'खसम' को कबीरने 'पति' के अर्थमें प्रयुक्त किया है (दे० ११ अक्तूबर, १९४५ के साप्ताहिक 'आज' में प्रकाशित उनका 'खसमकी खोज' शीर्षक लेख)। किन्तु प० हजारीप्रसाद द्विवेदीका मत बीरने 'खसम' का प्रयोग कहीं तो 'गगनोपम या 'शून्योपम' के अर्थमें किया है, और कहीं 'निकृष्ट पति' के अर्थमें। कबीरने 'खसम' का 'निकृष्ट पति' के अर्थमें व्यवहार अवश्य किया है, पर प्रश्न उठता है कि यह अर्थ उन्होंने प्राप्त कहाँसे किया। द्विवेदी जी की युक्ति है कि गगनोपमावस्थाका पर्याय 'खसम-भाव' हठयोगियोके माध्यमसे कबीरको मिला, और कबीरदास हठयोगियो की कृच्छ्रसाधना-द्वारा प्राप्त समाधिको वहुत ऊँची अवस्था नही मानते थे। इस प्रकार 'खसम' शब्दके लोकप्रचलित अर्थ 'पति' के साथ निकृष्टताका भाव अपने आप जुड़ गया, और यह नया अर्थ बना। पर हमारी समझम 'खसम' की खोजमे इतनी दूर जानेकी कोई आवश्यकता नहीं। 'खसम' शब्दके साथ एक मुहावरा है 'खसम करना'। यह भी कुछ अच्छे अर्थ का द्योतक नहीं। निम्न वर्गकी मुसलमान स्त्रियोके झगड़ोमें जब गालियो का सिलसिला चलता है, तो 'शौहर' का व्यवहार नही होता, 'खसम' की ही प्रधानता रहती है। वहुत सभव है कि 'खसम 'के साथ निकृष्टता के भावकी व्यजना उसके अरबी अर्थ 'झगड़ालू' के ही कारण आयी हो।

चन्द्र, सूर्य---

ब्रह्मरन्ध्रमे सहस्रदल-कमल है, जिसमें एक योनिकी कल्पना की गयी है इसका मुख नीचेकी ओर है। इस योनिमें एक चन्द्राकार स्थान है, जिससे सदा अमृत-स्राव होता रहता है। यह स्थान योगियोके लिये विशेष आकर्षणका केन्द्र है। ठीक इसके विपरीत मूलाधार चक्रमे चार दलो वाले कमलके बीचमें एक ऐसे गोलाकार स्थानकी कल्पना की गयी है, जिससे विषका स्राव होता रहता है। इस स्थान-विशेषको सूर्य-

कहते हैं, जिससे निकलकर यह विष ऊपरकी ओर प्रवाहित होता है, और मनुष्यको वृद्ध बनाता है। इस विषके ही कारण उपरोक्त स्थानमें तापदायक सूर्यकी कल्पना की गयी है, और इसके ठीक प्रतिकूल अमृतके उद्गम-स्थानको चन्द्र कहा गया है।

काशी--

काशी शिवका स्थान कहा गया है। पर अन्तस्साधना-प्रधान योग-मार्गमें शिवको घटके अन्दर देखनेका ही विधान है। 'शिवपुराण' में भी कहा है--

'शिवमात्मानि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिन ।
आत्मस्थ ये न पश्यन्ति तीर्थे मार्गन्ति ते शिवम् ॥'

अर्थात्, योगीजन शिवको प्रतिमाओमें नही, अपने हृदयमें देखते हैं। जो आत्मस्थ शिवके दर्शन नहीं करते, वे तीर्थोमे उन्हे ढूँढते फिरते हैं।

इसी प्रकार कबीर, दादू आदि सन्तोने भी घटके अन्तर्गत ही काशीकी स्थिति बतायी है। ऐसे स्थलो पर 'काशी' का अभिप्राय है 'परब्रह्मका स्थान'।

पुरुष—

निर्गुणियोका 'पुरुष' सांख्य के 'पुरुष' से भिन्न है। यहाँ उसे ब्रह्मके पर्यायके रूपमें ग्रहण किया गया है।

(विस्तारके लिये दे० पृ० १२२,१२३ और १२६)

प्रकृति—

'पुरुष' की तरह 'प्रकृति' को भी सांख्य-द्वारा गृहीत अर्थमें नहीं लेकर मायाका समानार्थी माना गया है।

(विस्तारके लिये दे० मायाका विवेचन, पृ० १३४–१३८)

कमल—

कमलसे प्रतीकार्थ ग्रहण करनेकी एक प्राचीन दार्शनिक परम्परा है। चेतनाके सर्वप्रथम अवतरणके समय एक ऐसे आलोकमय सहस्रदल स्वर्ण-कमलके खिलनेकी चर्चा दार्शनिक ग्रन्थोंमें की गयी है, जो सृष्टिका गर्भ-द्वार बना। इस कमलकी नाल क्षीरसागरशायी विष्णुकी नाभिसे निकली, जिससे ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई, और उनसे समस्त विश्वकी। पृथ्वीको भी कमल-रूप माना गया है। रूपककी भाषामें सारी जलराशि स्त्री-शरीर हुई और कमल योनिवत्। शास्त्रीय आधार पर योनिस्थ जरायुका आकार कमलकी तरह माना गया है। पुष्पवती होनेका आधार यही कमल है। कमल-कुलिश-साधना भी कमलके सृष्टि-द्वारका प्रतीक होनेकी पोषक है। कमलको भारतीय कलाके प्रमुख प्रतीकोंमें लानेका श्रेय शैवोंको है। मोहेन-जो-दड़ोसे प्राप्त कमल-धारिणी देवीकी एक मूर्त्ति मिली है, जिसमें कमलका प्रयोग हुआ है। मातृत्व के साथ कमलके संबंधका यह सबसे प्राचीन उदाहरण है। आज भी हमारी जनपदीय भाषाओंमें प्रसवके साथ 'नार पुरइन' शब्दका जो सम्बन्ध मिलता है, उससे इस मतकी पुष्टि होती है। 'नार' 'नाल' का अपभ्रंश है, और 'पुरइन' 'पद्मिनी' का। बौद्ध-मूर्त्तियोंमें कहीं-कहीं देवीकी व्यञ्जना कमलके द्वारा की गयी है। इस प्रकार कमलका प्रतीक और सृष्टिका भाव, दोनों अभिन्न-सी वस्तुएँ हैं। यहाँ तक कि कमलको योनिका प्रतीक माना गया है।

योग-साधना में कमलकी कल्पना षट्चक्रोंके रूपमें हुई है। ऐसा जान पड़ता है कि इस प्रतीकके ग्रहणके मूलमें कमल-सम्बन्धी परम्परागत भावना ही काम कर रही है। चक्रोंके भेदनकी प्रक्रिया भी कुछ ऐसी है कि अन्तिम चक्रके कुण्डलिनी शक्ति-द्वारा भेदन किये जाने पर अमृत-स्राव होकर अनिर्वचनीय आध्यात्मिक आनन्दकी प्राप्ति होती है।

लौकिक रतिकी प्रक्रिया और उसके परिणामसे इसका जो साम्य है, उससे यह अनुमान कुछ असगत नही लगता।

इश्क़ मजाजी और इश्क़ हक़ीक़ी—

जब तक प्रेम एकमात्र यौन सम्बन्ध पर आश्रित रहता है, तब तक तसव्वुफ़में उसकी अवलेहना होती है। पर उत्तरोत्तर परिमार्जनके फलस्वरूप उसके विकार नष्ट हो जाते हैं, और सामान्य रतिको परम प्रेमका पद मिल जाता है। सूफी मतमें इस प्रक्रियाको इश्क मजाजी से इश्क हक़ीक़ी तक जाना कहते हैं। इसके बाद ही इन्सान खुदीको मिटाकर खुदा बन जाता है, और 'अनलहक़' का अनुभव करता है। लौकिक सूफी प्रेम-कहानियोंके पीछे आध्यात्मिक अर्थके सकेतका यही रहस्य है।

आसमानी किताब—

तौरेत, इञ्जील और जबूर—इन तीन ग्रन्थोंको पारिभाषिक रूपमें 'आसमानी किताब' कहते हैं।

हाल—

आध्यात्मिक प्रेमकी तन्मयावस्थाको सूफियोंने 'हाल' की अवस्था कहा है।

नफ़्स—

(दे० पृ० ७७)

इबलीस—

(दे० पृ० ७७)

म्वारिफ—

(दे० पृ० ७५-७८)

बका—

मृत्युके बाद प्रत्येक जीव अपनी वास्तविक स्थितिमें पहुंच जाता है। वही बका है। पहुँचे हुए सूफी-साधकोंको जीवनमें ही बकाकी अवस्था प्राप्त हो जाती है। उनकी तुलना हम जीवनमुक्तसे कर सकते हैं।

फ़ना—

मुक्तिका पर्यायवाची है। यदि रूहका अल्लाहसे ऐसा संयोग हो जाय कि उसे अपने अस्तित्वका भी अनुभव नहीं हो, तो वह फनाकी अवस्था प्राप्त करता है।

ज़िक्र—

उपवास आदि को कहते हैं।

शरीयत, तरीकत और हकीकत-

बकाके लिये साधनाके ये सोपान हैं। शरीयत (कर्मकांड) साधनाका स्थूल और प्रारम्भिक अंग है। इस अवस्थामें मुस्लिम और सूफीमें कोई अन्तर नहीं होता। शरीयतकी अवस्थामें ही कुछ 'मुकामात' को पार करनेके बाद 'मोहब्बत' का आविर्भाव होता है, और साधक प्रियतमकी खोजमें आगे—'तरीकत' के क्षेत्रमें—बढ़ता है। इस अवस्थामें चित्तवृत्तियोंके निरोधके पश्चात् उसे म्वारिफ़की प्राप्ति होती है, और परमात्माका चिन्तन करते-करते वह अन्ततः 'हकीकत' के क्षेत्रमें पहुंच जाता है। यहाँ उसे अपने उपास्यकी उपलब्धि होती है, और धीरे-धीरे वह 'फना' की अवस्थामें आ जाता है, जो सूफी-साधना की चरम सीमा है।

नासूत, मलकूत, जबरूत, लाहूत और हाहूत--

ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये साधकके विकासकी इन चार स्थितियोंकी कल्पना सूफियोंने की है। साधक इन्हें क्रमशः पार करता हुआ ब्रह्ममें

मिल जाता और सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। ब्रह्मांडके भीतर लोकोंकी जो कल्पना है, उसीके आधार पर पिंडमें इनका काल्पनिक विधान किया गया है।

एक—

एक ब्रह्म।

तीन—

तीन गुण—सत्व, रजस्, और तमस्।
तीन शरीर—स्थूल, सूक्ष्म और कारण।
तीन नाडियाँ—इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा।
तीन प्राणायाम—पूरक, कुम्भक और रेचक।
तीन लोक—स्वर्ग, मर्त्य और पाताल।
तीन ताप—आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक।
तीन काल—भूत, वर्तमान और भविष्य।
तीन देवता—ब्रह्मा, विष्णु और शिव।

चार—

चार अवस्थायें—जाग्रत, सुषुप्ति, स्वप्न और तुरीय।
चार वेद—ऋक्, यजुः, साम और अथर्व।

पाँच—

पाँच तन्मात्र—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।
पाँच तत्त्व—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी।
पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—श्रवण, त्वक्, नेत्र, जिह्वा और नासिका।
पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ।
पाँच स्थूल वायु—व्यान, समान, उदान, प्राण और अपान।
पाँच सूक्ष्म वायु—धनंजय, किकरा, कूर्म, नाग और देवदत्त।

पाँच कोश--अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय ।

पञ्च मकार—मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन और मुद्रा ।

छ.—

छ रिपु--काम क्रोध, मोह, लोभ, मद और मत्सर ।

छ. शास्त्र--मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक ।

छ चक्र—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, अनाहत, मणिपुर, विशुद्ध और आज्ञा ।

छ तन्त्र—मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन और तारण ।

आठ—

अष्ट सिद्धियाँ—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ।

अष्ट मैथुन—स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्यभाषण, सङ्कल्प, अध्यवसाय और क्रियानिष्पत्ति ।

नौ---

नौ निधियाँ—महापद्म, पद्म, शङ्ख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व ।

नौ ग्रह---पृथ्वी, मंगल, शुक्र, आदि ।

नौ नाथ--नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्षनाथ चर्पट, जलधर और मलयार्जुन ।

नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन ।

दस अवतार—मत्स्य, कच्छप, शूकर, नरसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि ।

चौदह—

चौदह विद्यायें—ब्रह्मज्ञान, रसायन, श्रुतिकथा, वैद्यक, ज्योतिष, व्याकरण, धनुर्विद्या, जलतरण, सङ्गीत, नाटक, अश्वारोहण, कोकशास्त्र, चौर्यविद्या और चातुर्य।

पचीस—

पचीस तत्त्व—प्रकृति, पुरुष, महत्, अहंकार, मन, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्र और पञ्चमहाभूत।

चौरासी—

चौरासी सिद्ध—सरहपा, कण्हपा, लुइपा आदि।

चौरासी आसन—सिद्धासन, पद्मासन, शवासन आदि।

(11) कविप्रसिद्धिप्राप्त —

वे कल्पित सत्य, जिनका अस्तित्व केवल कवियोंके संसारमें रहता है, 'कविप्रसिद्धि' कहे जाते हैं। यह कोई आवश्यक नहीं कि शास्त्र-ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति ही कविप्रसिद्धियोंसे परिचित हो। अनेक कविप्रसिद्धियाँ तो लोकोक्तियोंकी तरह जनप्रचलित हो जाती हैं। ऐसी ही कविप्रसिद्धियोंसे संतोंने अपनी भावाभिव्यक्तिके लिये प्रतीक चुने हैं।

हंस—

हंसके विषयमें दो कविप्रसिद्धियाँ हैं—हंस सरस्वतीका वाहन है, और हंस नीर-क्षीर-विवेकी है। दोनों प्रकारसे वह विशुद्ध ज्ञानके प्रतीकके रूपमें ग्रहण किया गया है। संत-कवियोंने हंसको जीवन्मुक्तका प्रतीक माना है, जो उचित ही है। हंस विवेकशील है, निर्मल है, उन्मुक्त है; जीवनमुक्त भी शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य, निर्विकार और ज्योति- स्वरूप है।

मानसरोवर--

मानसरोवर हसका निवास-स्थान है । अत सन्तोने 'मानसरोवर' की कल्पना उस स्थानके लिये की है, जहाँ समाधिकी अवस्थामें जीवन-मुक्त आत्मा अमृतका आस्वादन करती है ।

नारद–

'नारद' शब्दकी व्युत्पत्ति दो प्रकारसे की गयी है—

'जीवस्य नरस्य इद नारं ससरण भ्रमण तद् ददाति इति नारदः वृद्धेः कलहप्रवर्त्तको राजसो भाव.' और

'आपो नारा. अयनं शयनस्थान यस्य स नारायणः तत् स्थान नार मोक्षं अपि भ्रमणानन्तर ददाति इति वुद्धे कलहनिवर्त्तक सात्त्विको भावः अपि नारद' ।

जीवको ससारमें भ्रमण करानेवाली, कलह करानेकी प्रवृतिवाली बुद्धिका तामसी भाव भी 'नारद' है, और ससारमें भ्रमण करानेके वाद जीवको मोक्षकी प्राप्ति करानेवाली बुद्धिका सात्त्विक भाव भी ।

नारदका यह रूप पुराण-साहित्य और जन-प्रचलित कहानियोंमें अभी तक चला आ रहा है । सन्तोने, विशेषतः सूफियोने इसे ज्यो-का-त्यो ग्रहण कर लिया, और इसी रूपमें शैतानकी कल्पना की ।

(ख) परम्परामुक्त .---

परम्परागत पारिभाषिक शब्दो और प्रतीकोसे सन्त-कवियोका परिचय सत्सगके माध्यमसे हुआ, क्योकि वे प्रायः साक्षर नहीं थे । पर यह अवश्य है कि उनमें प्रतिभा थी, जिसके वल पर उन्होने स्वयं नये प्रतीक वनाये । ये नये प्रतीक स्वभावतः लोक-जीवनसे ही लिये गये हैं । ऐसे एक-दो दार्शनिक शब्द भी उन्होंने प्रयुक्त किये है, जिन्हें परम्परामुक्त इसी अर्थमें कहा जा सकता है कि उनका अर्थ वदल गया है । अधिक

सख्या लोकजीवनसे चुने गये सर्वथा नवीन प्रतीकोकी ही है, जो भावाभिव्यजनमें पूर्ण समर्थ है ।

(i) दर्शन-सबधी :--

ऐसे शब्द एक-दो ही मिलेंगे; और जो है भी, उनका बाह्य रूप सर्वथा परम्परागत है, केवल अर्थ परिवर्तित हो गया है । शरीर पुराना है, आत्मा कुछ बदल गयी है; और यही उनकी मौलिकता है ।

नवधा भक्ति--

सगुण-उपासनामें नवधा भक्तिका महत्त्वपूर्ण स्थान है । वहाँ मूर्ति-पूजाकी व्यवस्था होनेके कारण इसम बहुत-कुछ बाह्य विधानोकी प्रधानता है । पर निरजनी सन्त तुरसीदासने इस नवधा भक्तिको निर्गुण-उपासनाकी दृष्टिसे एक नवीन अर्थ दे दिया है । श्रवण, कीर्तन और स्मरण तो निर्गुण ब्रह्मके पक्षमें भी सभव है, पर कठिनाई आगे होती है । तुरसीके अनुसार पादसेवन हृदय-कमल-स्थित ज्योति-स्वरूप ब्रह्मका ध्यान करना है; अर्चन समत ब्रह्मांडमें ॐ का प्रतिरूप देखना है; वन्दन साधु, गुरु और गोविन्दको एक समझकर उनकी वन्दना करना है; दास्य इन तीनोकी निष्काम भावसे सेवा करना है; सख्य ब्रह्मसे बराबरीका भाव नही रखना, बल्कि सभी मार्गोसे उसकी उपलब्धि करनेमें विश्वास रखना है; और आत्म--निवेदन है तन और मनको अपने उपास्यको समर्पित कर देना । तुरसीदासने स्पष्ट कहा है कि यह नवधा भक्ति सगुणी नवधा भक्तिसे भिन्न है, और इसके द्वारा पहले प्रेमा-भक्तिकी,और तब मुक्तिकी प्राप्ति होती है ।

(ii) लोकजीवनसंबधी ---

इन प्रतीकोको सन्तोंने अपनी चारों ओरके वातावरणसे चुना है । इससे उन्हें दार्शनिक और आध्यात्मिक तथ्योके प्रेषणमें सुगमता हुई है,

और जनसाधारणको उन्हें हृदयङ्गम करनेमें। ये प्रतीक बड़े ही मार्मिक हैं, और जिन वस्तुओंके लिये आये हैं, उनके साथ इनका स्वाभाविक रूपमें साधर्म्य प्रकट होता है।

बादशाह, सुलतान, राजा, साह—

ये आत्मा या जीवात्माके लिये प्रयुक्त हुए हैं। प्राचीन कालमें राजाओंको ईश्वरका अंग स्वीकार किया गया था। लौकिक दृष्टिसे भी राजा सबसे बड़ा समझा जाता था। अतः आत्माके लिये यह प्रतीक सरलतासे ग्रहण कर लिया गया। कहीं-कहीं इनका प्रयोग गुरुके लिये भी आया है, क्योंकि वह जीवन्मुक्त होता है, तथा उसमें और गोविन्द-में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

सती—

आत्माका प्रतीक है। आत्मा निर्विकार है; विकार तो शरीरके साथ लगे हुए हैं।

बिरहिणी, बैरागिनी, बियोगिनी—

आत्मा और परमात्मा वस्तुतः एक हैं, किन्तु मायाके कारण उनमें बिरह हो गया है। इस बिरहकी रागात्मक अभिव्यक्तिके लिये आत्माकी कल्पना इन रूपोंमें की गयी है।

दुलहिन—

आत्मा परमात्माकी प्रेयसी है। मुक्तिके बाद वह दुलहिनके रूपमें अपने प्रियतमसे मिलने जाती है, और मिलकर तदाकार हो जाती है।

चरखा, चक्की—

चित्तके प्रतीक हैं। उसकी चंचलता प्रकट करनेके लिये इनका व्यवहार हुआ है।

चोर—

चित्तका प्रतीक है । चित्त परायी वस्तु पर आँखे लगाये रहता है । उसकी यह प्रवृत्ति चोरो-जैसी है ।

चूल्हा—

सामान्य मनुष्यका चित्त वशमे नही होता, और साधुओ की तरह उसके चित्तमे शान्ति भी नही होती । अतृप्ति की आगसे वह दिन-रात जलता रहता है, इसीलिये चूल्हेको चित्तका प्रतीक माना गया है ।

हाट—

'ससार'के लिये आया है । हाटमें विभिन्न प्रकारके लोग आते जाते रहते है । संसार भी आवागमनका केन्द्र है ।

चुनरी, चोली —

शरीरका प्रतीक है । जिस प्रकार ये शरीरके वाह्य आवरण है, उसी तरह आत्माका वाह्य आवरण शरीर है ।

धोवी—

सद्‌गुरका प्रतीक है । धोवी वस्त्रोको धोकर साफ करता है; गुरु भी चुनरी और चोलीको धोकर साधक को शुद्ध-बुद्ध बना देता है ।

मगहर—

सामान्य व्यवहारमे मगहरके सबधमें यह प्रचलित है कि मगहरमें मरनेवालेको मुक्ति नही मिलती । इसका कारण है । मगहरके आसपास के पुराने डीहोको देखकर कुछ विद्वानोने यह अनुमान किया है कि यहाँ

कभी भगवान बुद्धका निवास अवश्य रहा होगा। कपिलवस्तुके नष्ट हो जाने पर बौद्धो और थारुओंके अड्डे भी यहां बने थे। इस आधार पर यह मान लेनेमें कोई कठिनाई नहीं कि सिद्धो और नाथपंथियोंके लिये यह स्थान पूज्य रहा होगा। शायद यही कारण है कि सनातनधर्मी जनतामें 'मगहर मरे सो गदहा होय' जैसी कहावत प्रचलित है। कबीरने लिखा है—'पहले दरसन मगहर पाइयो'। तात्पर्य यह है कि उन्हें मगहर में ही सर्वप्रथम ज्ञान प्राप्त हुआ। इसलिये निर्गुण-साहित्यमें मगहरको सम्मानकी दृष्टिसे देखा गया है। कबीरने मगहरमें जाकर शरीर छोड़ा था; अतः परवर्त्ती कालमें इसे मुक्तिदायक तीर्थ समझा जाने लगा।

सहायक ग्रन्थ

[क] सस्कृत–प्राकृत --

(१) अथर्ववेद

(२) आगमसार

(३) ईशोपनिषद्

(४) ऋग्वेद

(५) कठोपनिषद्

(६) केनोपनिषद्

(७) गोरक्षपद्धति

(८) गोरक्षसिद्धान्तसग्रह

(९) छान्दोग्य उपनिषद्

(१०) तत्रवार्त्तिक

(११) धम्मपद

(१२) नारदभक्तिसूत्र

(१३) पचदशी

(१४) प्रश्नोपनिषद्

(१५) बृहदारण्यक उपनिषद्

(१६) ब्रह्मसूत्र

(१७) भविष्यपुराण

(१८) मज्झिमनिकाय

(१९) मत्स्यपुराण

(२०) मनुस्मृति

(२१) महाभारत

(२२) माध्यमिक कारिका

(२३) माडक्य उपमिषद्

(२४) मुडकोपनिषद्

(२५) यजुर्वेद

(२६) योगरसायन

(२७) योगसूत्र

(२८) विनयपिटक

(२९) विवेकचूडामणि

(३०) विष्णुपुराण

(३१) श्रीमद्भागवद्गीता

(३२) श्रीमद्भागवत

(३३) श्वेताश्वतर उपनिषद्

(३४) सिद्धसिद्धान्तपद्धति

(३५) हठयोगप्रदीपिका

[ख] हिन्दी:—

(१) कबीर	ले०	प० हजारीप्रसाद द्विवेदी
(२) कबीरका रहस्यवाद	ले०	डा० रामकुमार वर्मा
(४) कबीर-वचनावली	ले०	बाबू श्यामसुन्दर दास
(३) कबीर-ग्रन्थावली	ले०	प० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
(५) काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध	ले०	श्री जयशंकर प्रसाद
(६) गीता-रहस्य	ले०	लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक
(७) गोरख-बानी	स०	डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
(८) चिन्तामणि	ले०	प० रामचन्द्र शुक्ल
(९) तसव्वुफ अथवा सूफीमत	ले०	प० चन्द्रबली पांडे
(१०) दर्शन-दिग्दर्शन	ले०	श्री राहुल साकृत्यायन
(११) द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ	प्र०	नागरी-प्रचारिणी सभा
(१२) पूर्वी और पाश्चात्य दर्शन	ले०	डा० देवराज
(१३) बौद्ध-दर्शन	ले०	प० बलदेव उपाध्याय
(१४) बौद्ध-दर्शन	ले०	बाबू गुलाब राय
(१५) भारतीय अनुशीलन ग्रंथ		
(१६) भाषा और साहित्य	ले०	बाबू श्यामसुन्दरदास
(१७) भोजपुरी ग्रामगीत	ले०	प० कृष्णदेव उपाध्याय
(१८) मध्ययुगीन भारत	ले०	डा० परमात्मा शरण
(१९) मोहेन-जो-दडो तथा सिन्धु-सभ्यता	ले०	श्री सतीशचन्द्र काला
(२०) योग-प्रवाह	ले०	डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
(२१) रामचरितमानस	ले०	गोस्वामी तुलसीदास
(२२) वैराग्य-संदीपिनी	ले०	गोस्वामी तुलसीदास

(२३) सत कबीर ले० डा०रामकुमार वर्मा
(२४) सत-वानी-सग्रह प्र० वेलवेडियर प्रेस
(२५) साहित्यिक निबंधावली स० डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री और श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा
(२६) सूरसागर ले० महाकवि सूरदास
(२७) हिन्दी-काव्य-धारा स० श्री राहुल साकृत्यायन
(२८) हिन्दी भाषा और साहित्यका विकास ले० प० अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध'
(२९) हिन्दी-साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास ले० डा० रामकुमार वर्मा
(३०) हिन्दी-साहित्यका इतिहास ले० प० रामचन्द्र शुक्ल
(३१) हिन्दी-साहित्यका विवेचनात्मक इतिहास ले० पं० सूर्यकान्त शास्त्री
(३२) हिन्दी-साहित्यकी भूमिका ले० प० हजारीप्रसाद द्विवेदी

तथा

कल्याण, नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, पारिजात, विशाल भारत, विश्वभारती, सरस्वती, सुधा, साहित्य-सदेश आदि पत्र-पत्रिकाये ।

(ग) अंग्रेजी.—

1. Cambridge History of India
2. Encyclopædia Britannica
3. Gorakhnath and the Kanphata Yogis, By W. R. Bricks
4. Indian Philosophy. By Sir S. Radhakrishnan.
5. Introduction to Aurobindo. By Dr. S. K. Maitra
6. Medieval mysticism of India By Kshitimohan Sen
7. Mysterious Kundalini, By V. S. Rale.
8. Mysticism, By Miss Evylin Underhill.
9. Nirgun School of Hindi poetry, By Dr. Pitambar dutta Barthwal
10. Obscure religious cults, By Dr. S. B. Dasgupta.
11. One hundred poems of Kabir, translated, By R N. Tagore
12. Studies in Tantras By Dr P C Bagchi